चित्र मीमांसा के सन्दर्भ में अप्पयदीक्षित एवं पण्डितराज जगन्नाथ के विचारों का समीक्षात्मक अध्ययन

चित्र मीमांसा के सन्दर्भ में अप्पयदीक्षित एवं पण्डितराज जगन्नाथ के विचारों का समीक्षात्मक अध्ययन

डॉ० नागेन्द्र नारायण मिश्र

MPASVO
M. PUBLICATION

MPASVO
M. PUBLICATION

मनीषा प्रकाशन एवं शोध विवेक संस्था, बी 32/16ए-2/1, गोपालकुंज, नरिया, लंका, वाराणसी

मनीषा प्रकाशन एवं शोध विवेक संस्था की स्थापना का उद्देश्य विद्वानों द्वारा लिखित पुस्तकों, अप्रकाशित शोधों, मौलिक कृतियों, कहानियों, उपन्यासों, पाठ्यपुस्तकों, पाण्डुलिपियों का प्रकाशन, साथ ही शोध के नवीन बिन्दुओं का अध्ययन करना है। मनीषा प्रकाशन द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय शोध समग्र पत्रिका 'आन्वीक्षिकी' का भी प्रकाशन किया जा रहा है। इसके अन्तर्गत आप अपने शोध निबंधों को ससन्दर्भ प्रकाशित करा सकते हैं।

Mpasvo India

डॉ० नागेन्द्र नारायण मिश्र, 9/7 बी-4, लिटिल रोड, जार्ज टाउन, इलाहाबाद, उ०प्र० (भारत) 9415340803, 9450925757, 9415274685, **डॉ० मनीषा शुक्ला,** प्रकाशिका, मनीषा प्रकाशन एवं शोध विवेक संस्था, बी 32/16ए-2/1, गोपालकुंज, नरिया, लंका, वाराणसी-221005, उ०प्र० (भारत), 9935784387

कार्यालय : वाराणसी, जौनपुर, इलाहाबाद

MPASVO अर्थात् मनीषा प्रकाशन एवं शोध विवेक संस्था। यह प्रकाशन एवं शोध के लिए स्थापित पंजीकृत, भारत सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त स्ववित्तपोषित संस्था है। इसकी पत्रावली सं० V-34654, रजि० 533/2007-2008 है।

© डॉ० नागेन्द्र नारायण मिश्र, डॉ० मनीषा शुक्ला
प्रथम संस्करण 2009
मूल्य 600/- मात्र

इस पुस्तक के अन्तर्गत सभी अधिकार लेखक एवं प्रकाशक के अधीन हैं। इस पुस्तक के किसी भी भाग को किसी भी रूप में प्रयोग करना, फोटोकॉपी करना अथवा किसी भी जानकारी को बिना सन्दर्भ दिये प्रयोग करना दण्डनीय होगा।

International Standard Book Number
ISBN – 13 : 978-81-908511-1-4
ISBN – 10 : 819085111-4

टंकण : एडोब पेजमेकर, ए.पी.एस. प्रियंका रोमन 14/16.8; Times New Roman 12/14.4
द्वारा : मुश्ताक कम्प्यूटर्स, शॉप नं. 2, (खनेजा वाच एवं बनारस बर्गर के पीछे), मयुरी बुक बाइण्डर के बगल में, लंका, बी0एच0यू0, वाराणसी-221005, उ0प्र0 (भारत)
प्रिंट : काबरा आफसेट, द्वारा विजय काबरा, रविन्द्रपुरी, वाराणसी, उ0प्र0 (भारत)
प्रकाशन : मनीषा प्रकाशन एवं शोध विवेक संस्था
बी 32/16ए-2/1, गोपालकुंज, नरिया, लंका, वाराणसी-221005, उ०प्र० (भारत), 9935784387

प्रात: स्मरणीय परमपूज्य पिताजी स्वर्गीय पण्डित श्री त्रियुगी नारायण मिश्र एवं पूज्या माता जी स्वर्गीया श्रीमती प्राणवन्ती देवी के चरण कमलों में सादर समर्पित

विषय-सूची

		पृष्ठ-संख्या
प्राक्कथनम्		**i-iii**
आत्म निवेदनम्		**iv-v**
प्रस्तावना		**vi-x**
प्रथम अध्याय :	अप्पयदीक्षित एवं पण्डितराज जगन्नाथ का व्यक्तित्व एवं कृतित्व	1-23
द्वितीय अध्याय :	काव्यशास्त्र परम्परा में अप्पयदीक्षित एवं पण्डितराज जगन्नाथ का स्थान	23-52
तृतीय अध्याय :	चित्रमीमांसा का महत्त्व एवं उसका मूल प्रतिपाद्य	53-60
चतुर्थ अध्याय :	काव्यस्वरूप निरूपण एवं चित्रमीमांसा	61-90
पंचम अध्याय :	सादृश्यमूलक अलंकारों की समीक्षा **उपमा** **अनन्वय** **उपमेयोपमा** **स्मरण**	91-129
षष्ठ अध्याय :	आरोपमूलक अभेद प्रधान अलंकारों की समीक्षा **रूपक** **परिणाम** **ससन्देह** **भ्रान्तिमान** **उल्लेख** **अपह्नुति**	130-171
सप्तम् अध्याय :	अध्यवसायमूलक अभेद प्रधान अंक अलंकारों की समीक्षा **उत्प्रेक्षा** **अतिशयोक्ति**	172-186
उपसंहार		187-195
संदर्भ ग्रंथों की सूची		196-200

❖

श्रीः

मङ्गलमूर्तये नमः

प्राक्कथनम्

डी० फिलुपाधिधारिणा श्रीमता नागेन्द्रनारायण मिश्रेण विलिखितः ''चित्र मीमांसा के सन्दर्भ में अप्पय दीक्षित एवं पण्डित राज जगन्नाथ के विचारों का समीक्षात्मक अध्ययन'' नामको ग्रन्थोऽयं मया सम्यगवलोकितः। सप्ताध्यायेश्वप्पयदीक्षित पण्डितराजजगन्नाथयोर्व्यक्तित्वं तयोः कृतित्त्वम्, काव्यपरम्परायां तयोः स्थानमथ च वैशिष्ट्यम्, चित्रमीमांसा महत्त्व मूल्याङ्कनम्, चित्रमीमांसायां काव्यस्वरूपवर्णनम्, सादृश्यमूलकालङ्काराणामुपमानन्वयोपमेयोपमा स्मरणानां समीक्षा, आरोपमूलकाभेदप्रधानालङ्काराणां रूपकपरिणामसन्देहभ्रान्तिमानुल्लेखापह्नुतीनां समीक्षणम्, अध्यवसायमूलकाभेदप्रधानालङ्कारयोरुत्प्रेक्षातिशयोक्त्योः सम्यक्समीक्षणं गभीरविचारेणानेन कृतम्।

प्रथमेऽध्याये अप्पयदीक्षितस्य समयः १५५४-१६२६ ई० निर्धारितः दीक्षितो द्राविणो ब्राह्मण आसीत्। तस्य च भक्तिपरकमाध्वपरकाद्वैतपरक रामानुजीयपरकपूर्वमीमांसापरक व्याकरणपरकाणां तथा च वृत्तिवार्तिक चित्रमीमांसा कुवलयानन्दानां काव्यशास्त्रीयग्रन्थानां परिचयः ग्रन्थकारेण प्रदत्तः। अप्पयदीक्षितकृतचित्रमीमांसायां द्वादशालङ्कारानादायार्थचित्रकाव्यस्य वैदुष्यपूर्णं विवेचनमकरोत्। ग्रन्थोऽयमपूर्णो यथा।

अप्यर्धचित्रमीमांसानमुदेकस्य मासला

पण्डितराज जगन्नाथसमयः १६२०-१६६० ई० निर्धारितः। तैलङ्गब्राह्मण आसीत्। पण्डितराजो गङ्गाभक्त आसीत् यवनीमतारयत्स्व यच्चाततरत्भवार्णवात्।
सुरधुनिमुनिकन्ये तारये पुण्यवन्तं स तरति निजपुण्यैस्तत्र किं ते महत्वम्।
यदि हि यवनकन्यां पापिनीं मां पुनीहि तदिह तव महत्वं तन्महत्वं महत्वम्।।
रस० प्रस्तावना पृ० ३-३९।

पण्डितराजग्रन्थानां करुणालहर्यादीनाम् काव्यानां परिचयं लेखकः प्रदत्तवान्। रसगङ्गाधर ग्रन्थस्योल्लेखः स्वप्रतिभया ग्रन्थकारेण कृतः। नैयायिक भाषायां लिखितः रसगङ्गाधरः तत्र आननानामकौ द्वावेवाध्यायौ स्तः प्रथमानने काव्यलक्षणं द्वितीयानने रसध्वन्यालङ्काराणां विवेचनम्। एकसप्ततीनामलङ्काराणां विस्तृत वर्णनं कृतम्। रसगङ्गाधरस्य कस्मिन्नपि संस्करणे न मिलत्युत्तरालङ्कारः। अपूर्णोऽयं

ग्रन्थः परञ्च पूर्णवदस्ति। लक्षण ग्रन्थोऽयं रसगङ्गाधरः पण्डितराजेनोदाहरणानि स्वरचितानि प्रदत्तानि तत्र। पदपदार्थयोश्चिन्तनं शब्दवर्णमात्राणाञ्च चिन्तनमासीत्तदानीम्।

अर्द्धमात्रा लाघवेनपुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः। परिभा० पृष्ठ १३३

पण्डितराजेन चित्रमीमांसा खण्डनं लिखितम् यत्र तत्रोपहासः दीक्षितस्य कृतो दृश्यते। ए०बी० कीथ महोदयः काणे च पाश्चात्य विद्वांसावपि प्रशंसयतः। साहित्य क्षेत्रे पण्डितराजेन बहवो नियमाः स्थापिताः स च प्रतिभाशाली सूरिरासीत्।

द्वितीयेऽध्याये काव्यशास्त्र परम्पराया वर्णनं लेखकेन प्रतिभया सम्पादितम्। काव्यशास्त्रं नाम साहित्यमिति विश्वनाथः। कुन्तकोऽपि-

साहित्यमनयोः शोभा शालितां प्रति काप्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः।। वक्रो० १/१७

भरतमुनेर्नाट्यशास्त्रस्य चर्चामकरोत्। अन्येषामानन्दवर्द्धनपण्डितराजविश्वेश्वरप्रभृतीनामपि चर्चा कृतास्ति। रसालङ्काररीतिध्वनि वक्रोक्ति सम्प्रदायानामप्युल्लेखः कृतः। नाट्यशास्त्रस्य महत्ववर्णने भरत मुनिराह

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या ना सा कला।
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन्यन्न दृश्यते।।

मम्मटवामनभोजराजादीनामप्युल्लेखः कृतो वर्तते। भोजराज कृत सरस्वतीकण्ठाभरणस्य चर्चास्ति। वाग्देवतावतारस्य मम्मटस्य भूरिभूरिप्रशंसा कृतास्ति। साहित्य शास्त्रेऽस्य विदुषो नाम प्रसिद्धमेव। काव्यप्रकाशो लक्षणग्रन्थोऽस्ति।

तृतीयेऽध्याये चित्रकाव्यस्य वर्णनमानन्द वर्द्धनाचार्यः करोति-

रसभावादिविषयविवक्षाविरहे सति।
अलङ्कारनिबन्धो यः सचित्रं विषयो मतः।।
रसादिषु विवक्षा तु स्यात्तात्पर्यवती यदा।
तदा नास्त्येव तत्काव्यं ध्वनेर्यत्तु न गोचरः।।

ग्रन्थकारेण सत्यमेवोक्तम् चित्रकाव्यस्य पञ्चमूलतत्वानि सन्ति। तेषां कल्पनाविचारभावनालङ्कारतोषाणामुल्लेखः कृतः। कवित्वशक्तिहेतुपरकः श्लोको लिखितः।

शक्तिर्निपुणतालोक शास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे।। काव्यप्रकाश प्र०उ० का० ३

चतुर्थेऽध्याये लेखकोऽग्निपुराणस्थ काव्यस्य लक्षणमुल्लिखितम्।

संक्षेपात् वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली। अग्निपुराण ३३७/७

काव्यं स्फुटदलङ्कारगुणवद्दोषवर्जितम्।

यो निर्वेदश्च लोकस्य सिद्धमन्नादयोर्जितम्।। अग्निपुराण ३३७/८

पण्डितराजकृतकाव्यलक्षणस्योल्लेख: कृत: यथा-

''रमणीयार्थप्रतिपादक: शब्द: काव्यम्''

पञ्चमेऽध्याये लेखक: सादृश्यमूलक भेदाभेदप्रधानालङ्काराणां समीक्षणं कृतवानत्रोपमाद्यलङ्काराणां विश्लेषणं कृत्वा तस्य भेदप्रभेदादिकमवर्णयत्। स्मरणालङ्कारस्यापि सम्यग्विवेचनं कृतम्।

षष्ठेऽङ्के लेखक: स्वलेखिन्या विचार्यारोपमूलकाभेदप्रधानालङ्काराणां समीक्षणं सम्यक्प्रतिपादितम्। रूपकालङ्कारस्य निरूपणं गम्भीरतया कृतम्।

पण्डितराजकृत रसगङ्गाधरस्योदाहरणमपि प्रदत्तवान्।

उपमेयतावच्छेदकपुरस्कारणोपमेये शब्दान्निश्चीयमानमुपमा न तादात्म्यं रूपकम् तदेवोपस्कारकत्वविशिष्टमलङ्कार:। रसगङ्गाधर: पृ० २२५

रूपकालङ्कारस्य सर्वे भेदा: प्रदर्शिता: सन्ति। ससन्देहाद्यलङ्काराणां विवेचनं सुष्ठु प्रतिपादितम्।

सप्तमेऽङ्के ग्रन्थकार उत्प्रेक्षालङ्कारस्य स्वरूपं प्रदश्र्य तस्य भेदोपभेदमपि प्रदर्शयति।

अतिशयोक्ते: स्वतन्त्रसत्तास्ति भामहमतेन यथा-

निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्।

मन्यतेऽतिशयोक्तितमलङ्कारतया यथा।। काव्यालङ्कार २/८१

अनयोरप्पयदीक्षित पण्डितराजयो: काव्यशास्त्रीयालङ्काररसध्वनिविवेचनात्मकं समीक्षणं ग्रन्थकारेण कृतं तत्समीचीनमेव। सम्यक्समवलोक्याहं व्रवीमि यत् महता परिश्रमेण प्रतिभया च ग्रन्थकारेण डॉ० मिश्रेण प्रस्तुतोऽयं ग्रन्थ:। अयञ्च साहित्यविधानां नानाप्रसङ्गानां तत्वदर्शी हृदयस्पर्शीति चेतिध्यायं ध्यायं विश्वसिमि विश्वासयामि यदयं ग्रन्थ: साहित्य जगति कांचिदलौकिकीमुपकृतिं कुर्यादिति मुहुर्मुहुर्विश्वनाथो जगदीश्वर: प्रार्थ्यते यदस्य विपश्चितश्चिरायुष्यं यशोराशिं वितनुयादिति कामयते।

विक्रमसम्वत् २०६६ वैशाख शुक्ल **महेन्द्र शुक्ल:**

अक्षय तृतीया

आत्म निवेदनम्

अज्ञेय विधाना पराम्बा की अदृश्य शक्ति के बल से प्रस्तुत ग्रंथ आज पूर्णत्व को प्राप्त कर सकी, अत: सर्वप्रथम मैं उन्हीं आद्याशक्ति का स्मरण करता हूँ। मैं चिर ऋणी हूँ जगत् के साक्षात् ईश्वर स्वरूप, धर्मात्मा, सरल हृदय, उदार पूज्य पिताजी एवं सतत् वन्दनीयार अपनी स्नेहसलिला माँ का, जिनके प्रसाद स्वरूप आज मैं इस स्थान तक पहुँच सका।

मैं हृदय से आभारी हूँ अपने गुरुतुल्य बड़े भईया आचार्य जलेश्वर प्रसाद मिश्र का, जिनके तप: पूत कमलवत् चरणों में बैठकर मैनें विद्याध्ययन किया। इसी क्रम में अपने मामा पण्डित जय नारायण शुक्ल एवं श्री आद्या शंकर पाण्डेय पूज्य बाबा जी का आभारी हूँ।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय में शिक्षा प्रारम्भ करने से लेकर प्रकाश स्तम्भ, प्रेरक एवं सब कुछ रहे, अपने पर्यवेक्षक डॉ० राम किशोर शास्त्री-रीडर, संस्कृत विभाग का मैं चिर ऋणी हूँ, जिनके सहयोग से आज इस ग्रंथ का प्रणयन हो सका।

मैं इसी क्रम में अपने श्वशुर प्रो० महेन्द्र शुक्ल अवकाश प्राप्त विभागाध्यक्ष संस्कृत विभाग, राजकीय डिग्री कालेज चकिया, चंदौली के समय-समय पर प्राप्त मार्ग दर्शन एवं अमृतमय आशी: के लिये आभारी हूँ। आदरणीया माताजी (श्रीमती सत्या शुक्ला) के आशीर्वाद ने मेरे सम्बल को सदा बनाये रखा।

इस ग्रन्थ कार्य में सुधा वर्षिणी जीवन सङ्गिनी डॉ० (श्रीमती) अंशुमाला मिश्रा, प्रवक्ता, हिन्दी विभाग, जगततारन गर्ल्स डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद का विशेष रूप से आभार व्यक्त करता हूँ, शायद उनके सहयोग के बिना यह दुरूह कार्य इस व्यस्तता में हो पाना संभव नहीं था। मनोरंजन से वातावरण के सृजन में सहायक अपनी पुत्री अनुश्री मिश्रा एवं पुत्र अमृताश मिश्र का सहयोग मेरे लिये स्फूर्तिदायक रहा। इसी क्रम में अपनी साली डॉ० मनीषा शुक्ला का समय-समय पर मिलने वाला सहयोग

अवर्णनीय रहा। मैं अपने अनुजों, डॉ० माधवी शुक्ला, डॉ० विवेक पाण्डेय के साथ ही साथ अवनीश, विजय लक्ष्मी, महेश्वर, भानु, रानी, बृजेश एवं बृजेन्द्र को समय-समय पर उनके द्वारा दिये गये सहयोग के लिये शुभ आशीर्वाद देता हूँ। इन सबके अतिरिक्त मैं अपने सभी गुरुजनों, सम्बन्धियों एवं शुभेच्छुओं का हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ।

अन्त में मश्ताक कम्प्यूटर, मयूरी साइबर कैफे के बगल में (खनेजा वाच कम्पनी के पीछे), लंका, बी०एच०यू०, वाराणसी के इस कार्य के अतिशीघ्र पूर्ण करने में सहयोग देने के कारण भूरि-भूरि साधुवाद देता हूँ।

प्रस्तुत ग्रंथ में मैं कितना सफल रहा हूँ यह सुधी पाठकों, गुरुजनों एवं समीक्षकों के हाथों में सौंपते हुये बस इतना ही कहता हूँ कि-

'पुराणमित्येव न साधु सर्वम्
न चापि काव्यम् नवमित्यद्यम्
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते
मूढः परप्रत्ययनेय बुद्धिः।।'

विद्वच्चरणचन्चरीकः
नागेन्द्र नारायण मिश्र

प्रस्तावना

पराम्बा सरस्वती इस चित्र विचित्र संसार में उस पर अवश्य अनुकम्पा करती है जो उसकी श्रुति अर्थात् शास्त्र एवं यत्न से उपासना करता है ''श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्।'' सौभाग्य से संस्कृत साहित्य का अक्षय भण्डार ऐसे मनीषियों के चिरन्तन, सार्वजनीन, सार्वकालिक, सरस, ललित, सुन्दर कृतियों से भरा पड़ा है। वेदकाल से लेकर आज तक उसी भारती की उपासना नीरक्षीर विवेकी सुधीजन करते चले आ रहे हैं। सभी भली-भाँति जानते हैं कि भारतीय संस्कृत वाङ्मय में समीक्षा का अतिमहत्वपूर्ण स्थान है। सभी ग्रंथकार पूर्व प्रतिपादित ग्रंथकारों के मतों का गुण-दोष का विवेचन करके अपने मत का प्रकटन करते हैं और ''वादे-वादे जायते तत्वबोधः'' इस सरणि (मार्ग) का अनुसरण करते हैं। अतः संस्कृत साहित्य में समीक्षा का प्रादुर्भाव पूर्व में ही हो चुका था। ऐसा कहा जा सकता है। उन सबके मूल में भाषा रही। भाषा ही किसी के विचारों के आदान-प्रदान का उचित माध्यम रही। दण्डी ने तो इसके बिना संसार को अंधकार युक्त बताया-

''इदमन्धतमः कृत्स्नं जायते भुवनत्रयम्
यदिशब्दाह्वं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते।''[१]

भाषा सम्बन्धी सहित्य में परस्पर तुलनात्मिका प्रवृत्ति को ही समीक्षा करते हैं। समीक्षा से समीक्षित साहित्य का पर्यालोचन होता है। इस समीक्षा से प्रस्तुत विषय का स्पष्ट प्रकाशन होता है। प्रस्तुत शोध ग्रंथ इसी दिशा में एक लघु प्रयास है। संस्कृत साहित्याकाश में अलंकार शास्त्र के परवर्ती मूर्धन्य विचारकों में अप्पय दीक्षित का नाम आदर के साथ लिया जाता है। ये केवल अलंकार शास्त्री के रूप में ही नहीं अपितु साहित्यशास्त्र के सभी अंगों पर इनका अप्रतिम प्रभाव था। मीमांसा शास्त्र का इनका तलस्पर्शी, तत्वाभिनिवेशी ज्ञान यह पूर्णरूपेण स्पष्ट करता है कि इन मनीषी ने नव्य, न्याय एवं व्याकरण के साथ-साथ वैदिक वाङ्मय का भी समीक्षात्मक

अध्ययन किया है। पूर्वमतों के खण्डन के अनन्तर स्वविषयस्थापन इनकी प्रखर विदग्धता एवं तीक्ष्ण प्रतिभा का प्रमाण है। इस साहित्योद्यान को सुरभित करने वाला तब से २-३ शताब्दियों के भीतर शायद ही कोई विद्वान् अपनी मौलिक कृति से उत्पन्न हुआ हो ऐसा कह पाना मुश्किल है। दीक्षित जी का समग्र परिवार विद्याव्यसनी था। इसमें नीलकण्ठ दीक्षित का नाम किसे ज्ञात नहीं होगा?

यह सत्य है कि साहित्य शास्त्र के क्षेत्र में पण्डितराज के बाद कोई चकाचौंध कर देने वाली कृति नहीं आई किन्तु फिर भी 'चित्रमीमांसा' और 'कुवलयानंद' आज के काव्यशास्त्रीय अध्येताओं के लिए अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है।

मेरा तो मानना है कि आचार्य भरत से लेकर पण्डितराज तक के विषय में निरन्तर कुछ न कुछ लिखा जाता रहा और विद्वत् गोष्ठी में वह चर्चा का भी विषय रहा। इतना सब कुछ होते हुए भी न जाने क्यों अप्पय दीक्षित जैसे बहुमुखी प्रतिभा के धनी व्यक्ति के विषय में कुछ भी नहीं लिखा गया। यह बड़े ही दुर्भाग्य की बात रही है।

संस्कृत साहित्य के विविध क्षेत्रों में अप्पय दीक्षित का अप्रतिम योगदान रहा है। मैंने प्रसंगत: 'चित्रमीमांसा' विषय को लेकर केवल उन्हीं स्थलों की व्याख्या करने का प्रयास किया जहाँ पण्डितराज जैसे अलंकार शास्त्री और अन्य ध्वनिवादियों में तीव्र गतिरोध था।

पण्डितराज ने इनका खण्डन किया और नागेशभट्ट आदि ने उनका उत्तर दिया है। प्रस्तुत ग्रंथ का उद्देश्य इन आक्षेप-प्रत्याक्षेपों के बीच उन प्रवृत्तियों का निरूपण करना रहा है जो ध्वनिवादियों से उपेक्षित चित्रकाव्य को प्रतिस्थापित करने में सक्रिय रही है। प्रस्तुत ग्रंथ में पण्डितराज ने दीक्षित के परम्परा प्राप्त आचार पोषकता के कारण सिद्धान्तोंमें आयी शिथिलता पर प्रत्यक्ष या परोक्ष कटुतर शब्दों से प्रहार किया है जिससे उस पर पक्षपात का आरोप भी लगता है। यथा- ''निशेषच्युतचन्दननं''-इत्यादि श्लोकों में अलंकारकारिकों ने ध्वनि माना है वहीं पण्डितराज ने दीक्षित के इस मत की कटु आलोचना की।

प्रस्तुत ग्रंथ ''चित्रमीमांसा के संदर्भ में अप्पयदीक्षित एवं पण्डितराज

जगन्नाथ के विचारों का समीक्षात्मक अध्ययन'' कुल सात अध्यायों में विभक्त हैं जो निम्नवत् है :-

प्रथम अध्याय :-

प्रथम अध्याय अलंकारशास्त्र के दो उत्तरवर्ती मूर्धन्य मनीषियों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व से सम्बन्धित है। इसमें इनके जन्म, शिक्षा एवं इनकी भाषाशैली के प्रस्फुटन के साथ-साथ इनकी अनुपम कृतियों को विस्तार से बतलाया गया है। इस प्रथम अध्याय का नामकरण इसीलिए हमने ''अप्पयदीक्षित एवं पण्डितराज जगन्नाथ का व्यक्तित्व एवं कृतित्व'' किया है। वस्तुत: इनके व्यक्तित्व को समझे बिना इनकी कृतियों तथा पण्डितराज जगन्नाथ एवं दीक्षित के वैमनस्य को नहीं समझा जा सकता है और इसी की कुछ न कुछ छाप (दीक्षित की आलोचना के समय पण्डितराज द्वारा) दिखलाई पड़ती है। इसी कारण पण्डितराज ने कटुक्तियों का प्रयोग किया है जो कि जातिगत वैमनस्य एवं पूर्वाग्रह का द्योतक है।

द्वितीय अध्याय :-

द्वितीय अध्याय में हमने काव्य शास्त्रीय परम्परा में विविध आचार्यों के बीच इन दोनों विद्वानों का क्या स्थान है तथा काव्यशास्त्र को इन्होंने क्या दिया था? इस पर प्रकाश डाला है। इस अध्याय का नामकरण हमने ''काव्यशास्त्र परम्परा में अप्पयदीक्षित एवं पण्डितराज जगन्नाथ का स्थान'' किया है।

तृतीय अध्याय :-

प्राय: सभी ध्वनिवादियों तथा आलंकारिकों द्वारा उपेक्षित पड़े चित्रमीमांसा की ओर ध्यान नहीं दिया गया। ध्वनिवादियों ने तो इसे हेय बतलाया और अवर का अधम काव्य कहा। अत: हमने इसके महत्व एवं इसका मूल प्रतिपाद्य विषय क्या है? इस पर प्रकाश डालते हुए इसका नामकरण ''चित्रमीमांसा का महत्व एवं उसका मूल प्रतिपाद्य'' रखा है।

चतुर्थ अध्याय :-

इस अध्याय में काव्य का स्वरूप क्या है, उसके विषय में विविध विद्वानों के क्या मत हैं, काव्य के कितने भेद हैं तथा चित्रमीमांसा का उस

काव्य के भेदों के अंतर्गत क्या स्थान है इसमें अब तक उपेक्षित पड़े चित्रकाव्य को चित्रमीमांसा के आलोक में उचित स्थान पर रखने की दीक्षित द्वारा निर्वहित प्रक्रिया की समीक्षा की है। अत: इसी कारण से इस विषय का नाम हमने ''काव्यस्वरूप निरूपण एवं चित्रमीमांसा'' रखा है।

पंचम अध्याय :-

यहाँ हमने अलंकारों का जो वर्गीकरण किया है उसे अलंकार सर्वस्वकार से साभार ग्रहण किया है। 'चित्रमीमांसा' में मात्र १२ अलंकारों का ही वर्णन होने से ग्रंथ की प्रासंगिकता को ध्यान में रखकर रचना शैली के आधार पर उन्हें सादृश्य मूलक नाम दिया गया है। पंचम अध्याय का हमने 'सादृश्य मूलक भेदा-भेद प्रधान अलंकारों की समीक्षा' नाम दिया है। इसमें हमने निम्न अलंकारों के लक्षण, उनके भेद-प्रभेद वैमत्य तथा अलंकार ध्वनि तथा अंत में अपनी समीक्षा या समवलोकन प्रस्तुत किया है। वे चार अलंकार निम्नवत् हैं :-

१. उपमा   २. उपमेयोपमा

३. अनन्वय   ४. स्मरण

षष्ठ अध्याय : -

इसका नामकरण आचार्य रूय्यक के वर्गीकरण के आधार पर ही सादृश्य मूलक अलंकार के अन्तर्गत आरोपमूलक अभेद प्रधान अलंकारों का लक्षण, मत, वैमत्य, अलंकारध्वनि तथा विवादित लक्षण एवं उदाहरणों की समीक्षा की गई है, भेद-प्रभेद दर्शाया गया है तथा अंत में अलंकारध्वनि दिखाकर समीक्षा की गई है। इसमें निम्न अलंकार आते हैं :-

१. रूपक   २. परिणाम   ३. ससन्देह

४. भ्रान्तिमान   ५. उल्लेख   ६. अपह्नुति

इस अध्याय को हमने ''आरोपमूलक अभेद प्रधान अलंकारों की समीक्षा'' नाम दिया है।

सप्तम् अध्याय :-

इसमें हमने सादृश्यमूलक अलंकार के ही भेद अध्यवसायमूलक

अलंकारों की समीक्षा-परीक्षा की है। इसके अंतर्गत दो अलंकार चित्रमीमांसा में वर्णित है :-

१. उत्प्रेक्षा   २. अतिशयोक्ति

अत: हमने इसका नामकरण अध्यवसायमूलक अभेद प्रधान अलंकारों की समीक्षा किया है।

अंत में हमने उपसंहार करते हुए पण्डितराज जगन्नाथ के गुणों एवं उनकी शैली के दोषों पर दृष्टिगात किया है और इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि कुछ स्थलों को छोड़कर पण्डितराज द्वारा किया गया आक्षेप मात्र पाण्डित्य प्रदर्शन, दुराग्रह एवं जातिगत वैमनस्य का ही परिणाम है, जोकि एक प्रखर समालोचक को शोभा नहीं देता है किन्तु पण्डितराज की मेधा के भी हम प्रशंसक हैं जिन्होंने किसी भी सिद्धान्त को आँख मूँदकर नहीं माना। उसकी तर्क कसौटी पर जो खरा उतरता है वहीं मान्य है चाहे वह प्रतिकूल ही क्यों न हो। यदि यह 'लघुकृति, रंचमात्र भी सुधीजनों, समीक्षकों तथा जिज्ञासुओं के मनस् को संतृप्त कर सकी तो हम अपने को सौभाग्यशाली समझेंगे। यदि कहीं भी इसमें रंचमात्र संतुष्टि दिखलाई पड़ती है तो वस्तुत: उसका श्रेय गुरूवर्य डॉ० रामकिशोर शास्त्री, रीडर संस्कृत विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय को है जिनके चरणकमलों में बैठकर मैंने इस दुर्बोध कृति को उनकी प्रेरणा से ग्रन्थ रूप देने की कोशिश की। यदि कहीं कोई त्रुटि है तो उसमें वस्तुत: मेरी ही विषय के प्रति अज्ञानता है एत्दर्थ मृदु एवं कटु वाणी के अभ्यस्त सुधी समीक्षक एवं पाठक हमें क्षमा करेगें।

विनयावनत

(नागेन्द्र नारायण मिश्र)

प्रथम अध्याय

अप्पयदीक्षित एवं पण्डितराज जगन्नाथ का व्यक्तित्व एवं कृतित्व

दक्षिण भारत की विभूति कहे जाने वाले श्रीमान् अप्पय दीक्षित का संस्कृत साहित्य के इतिहास मे गौरवपूर्ण विशिष्ट स्थान है। बहुमुखी प्रतिभा के धनी सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र विद्वान् के रूप में इस मनीषा ने जिस भी काव्य पटल को स्पर्श किया वह संस्कृत साहित्य के उज्ज्वल आकाश मे झंङ्कृत हुए बिना न रह सका। इन्होंने मीमांसा, वेदान्त व्याकरण एवं काव्यशास्त्र के विषयों पर महत्वपूर्ण चिन्तन किये और इस तरह से शताधिक पुस्तकों के प्रणेता के रूप में इनका नाम अमर है। साहित्यशास्त्र में इनका योगदान भुलाया नहीं जा सकता है।

दीक्षित के संस्कृत साहित्य में तीन नाम मिलते हैं। इन्हें कहीं अप्पय, कहीं अप्पय्य और कहीं अप्प नाम से सम्बोधित किया गया है। 'कुवलयानन्द' के उपसंहार में उन्होंने अपने नाम के लिये अप्प शब्द का प्रयोग किया है।[१] रसगंगाधर में पण्डितराजजगन्नाथ अप्पय और अप्पय्य इन दोनों रूपों का प्रयोग करते हैं।[२]

श्री महालिंग शास्त्री ने संस्कृत नाटकों (कौण्डिन्य-प्रहसन, शृंगारनारदीय और प्रतिराजसूय) की प्रस्तावना में 'अप्पय' और अप्पय्य' दोनों रूपों का प्रयोग किया है।[३] ''चित्रमीमांसा खण्डन'' की प्रस्तावना के पद्य-३ में

१. ''अमुं'' कुवलयानन्दमकरोदप्पदीक्षित:।
नियोगाद् वेङ्कटपतेर्निरूपाधि कृपानिधे:।।'' कुवलयानन्द, पृ. ३०४

२. रसगङ्गाधर, पृ. १४ और २२०

३. कौण्डिन्य प्रहसन, पृ. १
कुले महत्यप्ययदीक्षितानां
श्रीत्यागराजाध्वरिणां प्रपौत्र:।
शृङ्गार नारदीय, पृ. ४, प्रतिराजसूय, पृ. ४

पण्डितराजगन्नाथ ने अप्पय्य दीक्षित' का प्रयोग किया है।[१]

पण्डितराजजगन्नाथ के समकालीन कहे जाने वाले दीक्षित जी कांची के सुप्रसिद्ध दार्शनिकों एवं प्रतिभाशाली द्रविण कवियों में माने जाते थे। इनका स्थिति काल १५५४ ई० से १६२६ ई० के बीच माना जाता है। ऐसी जनश्रुति है कि पण्डितराज एवं दीक्षित दोनों में कटु वैमनस्य था। पण्डितराजजगन्नाथ के साथ इनकी विरोध सम्बन्धी कतिपय किंवदन्तियां द्रष्टव्य हैं-

पण्डितराज तैलङ्ग ब्राह्मण थे। इन्होंने जयपुर में एक पाठशाला खोला था। संयोगत: एक बार एक काजी को विवाद में पराजित किया। दिल्ली लौटकर उस काजी ने बादशाह से इनकी प्रशंसा की, जिसके परिणाम स्वरूप बादशाह ने इनका काफी सत्कार किया। वहाँ किसी यवन कन्या पर आसक्त होकर उससे विवाह कर लिया। कालान्तर में काशी में पण्डितों में अग्रगण्य दीक्षित के नेतृत्व में पण्डितों ने ''यह तो यवनी के संसर्ग से दूषित है'' यह कहकर इनका बहिष्कार कर दिया। अत: ये दीक्षित जी के विरोधी हो गये।

अप्पय दीक्षित के विषय में विशेष तिथि का निर्धारण कर सकना सम्भव नहीं है। इस सन्दर्भ में डॉ० राघवन का यह कथन समीचीन है- 'एक ही परिवार की तीन पीढ़ियों में' अप्पय नाम के तीन व्यक्ति हुये हैं। कौन सा प्रमाण किस अप्पय का काल निर्धारित करता है, यह जानना कोई सुगम कार्य नहीं है।[२] प्रो० हुल्श ने अप्पय की शिवादित्यमणिदीपिका से अवतरण उद्धृत करते हुये यह सिद्ध करने की चेष्टा की है- कि इस ग्रन्थ के[३] प्रेरक पुरुष बेलूर के राजा चिन्नबोम्म हैं। ये चिन्नबीर के पुत्र हैं। राजा चिन्नबोम्म

१. सूक्ष्मं विभाव्य मयका समुदीरिताना -
मप्पय्यदीक्षितकृताविह दूषणानाम्।
निर्मत्सरो यदि समुद्धरणं विदध्या -
दस्यामहमुज्ज्वलमतेश्चरणौ वहामि।।

२. Proceedings of the tentu session of all India Oriental Conference, P. 176-180

३. South Indian Manuscript Report, P. 90-100

ऐतिहासिक पुरुष हैं।[१] कुवलयानन्द के उपसंहार वाक्य से स्पष्ट हैं कि इन्होंने राजा वेंकट के आदेश से 'कुवलयानन्द' की रचना की।[२] इन तथ्यों से यह निष्कर्ष निगमित होता है कि इनका रचनाकाल ईसा की सोलहवीं शती का उत्तरार्द्ध ही माना जा सकता है।

इसकी पुष्टि अन्य स्रोतों से भी की जा सकती है। आचार्य मम्मट की कृति 'काव्यप्रकाश' की 'कमलाकरी टीका' के टीकाकार कमलाकर भट्ट अप्पय का उल्लेख करते हैं। ध्यातव्य है कि यह ईसा की सत्रहवीं शदी के प्रथम चरण की बात है।[३] ईसा की सत्रहवीं शती के मध्यभाग में ही नीलकण्ठ दीक्षित ने 'चित्रमीमांसादोषधिक्कार' की रचना की और 'चित्रमीमांसा खण्डन का प्रत्युत्तर दिया है। अत: तथ्यों की संगति के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि अप्पय को ईसा की सोलहवीं शती का उत्तरार्द्ध का माना जाय।

'प्राकृत मणिदीप' को चिन्नवोम्म नरेश की कृति घोषित करके भी दीक्षित ने अपने को चिन्नबोम का समकालीन सिद्ध किया है।[४]

कुवलयानन्द पर लिखित 'रसिकरञ्जनी' नाम की टीका से टीकाकार गङ्गाधर बाजपेयी द्वारा अप्पय को अपने पितामह के भ्राता का गुरु बतलाया[५] जाना भी अप्पय को ईसा की सोलहवीं शती के अन्तिम चरण से लेकर ईसा की सत्रहवीं शती के प्रथम चरण तक के काल को ही प्रमाणित करता है।[६]

अप्पय दीक्षित, भट्टोजिदीक्षित और पण्डितराजजगन्नाथ ये तीनों सम सामयिक थे। ऐसा काणे ने इस प्रकार सिद्ध किया है।

AMS of the चित्र मीमांसा is dated submat 1709 (I.C. 1652-53 A.D.). Therefore, both the रसगङ्गाधर and the चित्र मीमांसा खण्डन were

१. South Indian Inscriptions, P. 69-84

२. नियोगाद् वेङ्कटपतोर्निरूपाधि कृपानिधे:

३. काणे-संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, २२३

४. कुप्पुस्वामी शास्त्री : ट्रिनियल कैटलाग, पृ. ६३०२

५. अस्मत्पितामहसहोदरदेशिकेन्द्र - रसिकरंजनी

६. काणे - संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ. २४८

composed before 1650 and after 1641 A.D. and they are the product of a mature mind. Therefore the literary activity of Jagannath lies between 1620 and 1660 A.D.

अप्पय दीक्षित द्रविण, भट्टोजिदीक्षित महाराष्ट्री और पण्डितराज जगन्नाथ तैलङ्ग ब्राह्मण थे। तत्कालीन सामाजिक कट्टरता और रूढ़िवादिता के रहते इन तीनों में विरोध होना स्वाभाविक था। इतना सब कुछ होते हुये भी पण्डितराज ने अप्पय दीक्षित का उन्मुक्त हृदय से स्वागत किया है- **द्रविण शिरोमणिभि:, द्रविण- पुंगवै;** इत्यादि।

चित्रमीमांसाखण्डनधिक्कार की रचना करके चित्र मीमांसा खण्डन का उत्तर देने वाले अप्पय दीक्षित के भातृपौत्र नीलकण्ठ दीक्षित के 'शिवलीलार्णव'[१] से यह पता चलता है कि इन्होंने सौ ग्रन्थों की रचना की। दुर्भाग्यवश अप्पयदीक्षित की बहुत कम ही कृतियाँ उपलब्ध एवं प्रकाशित हैं। इनकी कृतियों का वर्गीकरण विषय के आधार पर इस तरह किया जा सकता है।

(क) भक्ति-परक-

१- शिवध्यान पद्धति

२- पंचरत्न व्याख्या सहित

३- आत्मार्पण

४- मानसोल्लास

५- शिवकर्णामृत

६- आनन्द लहरी चन्द्रिका

७- शिवमहिम्न कालिका स्तुति

८- रत्नत्रय परीक्षा व्याख्या सहित

९- अरुणाचलेश्वर स्तुति

१०- अपीतकुचाम्बास्तव

११- चन्द्रकलास्तव

१२- शिवार्कमणिदीपिका

१३- शिवपूजा विधि

१. द्रासप्रतिं प्राप्य समा: प्रबन्धाञ्छतंव्यधादप्पयदीक्षितेन्द्र:- शिवलीलार्णव १-६

१४- नयमणिमाला व्याख्या सहित

१५- शिखरिणी माला

१६- शिवतत्वविवेक

१७- ब्रह्म तर्कस्तव

१८- आदित्यस्तव रत्न व्याख्या सहित

१९- शिवाद्वैत विनिर्णय

(ख) माध्वसिद्धान्त परक-

१- न्यायरत्नमाला व्याख्यासहित

(ग) अद्वैत वेदान्त परक-

१- श्रीपरिमल

२- सिद्धान्तलेश संग्रह

३- नक्षत्रवादावली (वेदान्त)

४- मध्वतन्त्रसुखमर्दन

५- मध्यवमतविध्वंसन

६- न्याय रक्षामणि

(घ) रामानुज के मत पर आधारित-

१- वरदराजस्तव

२- वेदान्तदेशिक विरचित पादुका सहस्त्र की व्याख्या

३- श्री वेदान्तदेशिक विरचित यादवाभ्युदय की व्याख्या

४- नयनमयूखमालिका व्याख्या सहित

(ङ) पूर्व मीमांसा परक-

१- नक्षत्रवादावली

२- विधिरसायन

(च) व्याकरण परक-

१- नक्षत्रवादावली[१]

(छ) काव्य शस्त्रीय-

१- वृत्तिवार्तिक

२- चित्रमीमांसा

(३) कुवलयानन्द-

इन कृतियों की अन्तर्वस्तु को देखने से यह विदित होता है कि दीक्षित का साहित्यिक क्षेत्र विशाल तो था ही, इसके साथ ही साथ वे मीमांसा, वेदान्त, व्याकरण, भक्ति और काव्यशास्त्र के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान थे।

संस्कृत साहित्य में इनकी ख्याति इनकी काव्यशास्त्रीय कृतियों के कारण ही है। चित्रमीमांसा, कुवलयानन्द तथा वृत्तिवार्तिक के साथ इन्होंने एक अन्य ग्रन्थ लक्षण रत्नावली का प्रणयन किया है, जिसमें नान्दी, सूत्रधार, पूर्वरंग, प्रस्तावना इत्यादि नाट्य शास्त्रीय पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या की है, किन्तु यह ग्रन्थ सम्प्रति अप्रकाशित है। इनमें से काव्यशास्त्रीय ग्रन्थत्रय का संक्षिप्त इतिहास इस प्रकार है-

वृत्तिवार्तिक- इस कृति में दो परिच्छेद हैं, जिसमें अभिधा और लक्षणा वृत्तियों का बृहद् विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस दृष्टि से देखने पर यह लगता है कि ये मीमांसकों से प्रभावित हैं। मीमांसकों ने भी अभिधावृत्ति के दीर्घदीर्घतरव्यापार को मानकर व्यञ्जना का खण्डन किया है।

यह ग्रन्थ अपूर्ण प्रतीत होता है क्योंकि प्रस्तावना भाग में तीनों वृत्तियों के विवेचन का सङ्केत देकर केवल अभिधा एवं लक्षणा का ही विचार किया गया है, व्यञ्जना को छोड़ दिया गया है।[२]

---

१. कुम्भकोणम् से प्रकाशित इस ग्रन्थ में व्याकरण के कतिपय महत्वपूर्ण विषयों का शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

२. वृत्तय: काव्यसरणावलंकार प्रबन्धभि:।
अभिधालक्षणाव्यक्तिरिति त्रिस्रो निरूपिता:।।
तत्र क्वचित्क्वचिद् वृद्धैर्विशेषानस्फुटीकृतान्।
निष्टंकयितुमस्माभि: क्रियते वृत्तिवार्तिकम्।। वृत्तिवार्तिक, पृ. १

चित्रमीमांसा- अपनी इस अनूठी कृति में दीक्षित जी ने निम्न १२ अलङ्कारों को लेकर अर्थचित्र काव्य का वैदुष्यपूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है-

१- उपमा २- उपमेयापमा

३- अनन्वय ४- स्मरण

५- रूपक ६- परिणाम

७- सन्देह ८- भ्रान्तिमान्

९- उल्लेख १०- अपह्नुति

११- उत्प्रेक्षा १२- अतिशयोक्ति

किन्तु यह ग्रन्थ भी अपूर्ण है जो कि इस ग्रन्थ के अन्तिम पद्य से ही स्पष्ट हो जाता है-

अप्पर्धचित्रमीमांसा न मुदे कस्य मांसला
अनुरूरिव धर्मांशोरर्धेन्दुरिव धूर्जटेः।।[1]

किन्तु कुवलयानन्द से प्रतीत होता है कि चित्रमीमांसा का और अधिक भाग रहा होगा, क्योंकि वहाँ श्लेषालङ्कार के अन्त में लिखा है कि- **''एतद्विवेचनन्तु चित्रमीमांसायां द्रष्टव्यम्।''**[2] इससे यह ध्वनित होता है कि चित्र मीमांसा में श्लेषालङ्कार का भी विवेचन था, जो कि इस समय उपलब्ध प्रकाशित पुस्तकों में दृष्टिगत नहीं होता। इसी प्रसङ्ग में कुवलयानन्द व्याख्याकार सर्वश्री वैद्यनाथ आचार्य लिखते हैं कि- **''यद्यप्युत्प्रेक्षानन्तरम् चित्र मीमांसा न क्वापि दृश्यते।''** इससे सिद्ध होता है कि- उनके समय में चित्र मीमांसा उत्प्रेक्षा अलङ्कार तक ही उपलब्ध थी और उसमें इस समय पाया जाने वाला अतिशयोक्ति अलङ्कार नहीं था।

इसके विपरीत उत्प्रेक्षा प्रसङ्ग में दीक्षित जी कहते हैं कि- **'अधिक' निदर्शनालङ्कारप्रकरणे चिन्तयिष्यते।**[3] **प्रकारान्तरेणापि कतिचिदस्याभेदान्**

१. कुवलयानन्द, पृ. १०५

२. वही

३. चित्रमीमांसा, पृ. ३१६

समासोक्ति प्रकरणे दर्शयिष्यामः।[1] **अन्यदत्रे विचारणीयं समासोक्ति प्रकरणे विचारयिष्यते।**[2] इन सबसे यही विदित होता है कि अतिशयोक्ति के पश्चात् और भी अलंङ्कार थे, जिनकी विवेचना दीक्षित जी करना चाहते थे।

अधुना, चित्र मीमांसा की तीन टीकायें सुलभ हैं-

१- धरानन्द की सुधा

२- बालकृष्ण पायगुण्ड की गूढ़ार्थप्रकाशिका।

३- चित्रालोक (इनके कर्ता का ज्ञान नहीं है)

कुवलयानन्द- आलङ्कारिकों की दृष्टि से इस ग्रन्थ का अति गौरवपूर्ण स्थान है। दीक्षित ने अपने इस तीसरी महत्वपूर्ण कृति में प्राय: लक्ष्य और लक्षण पीयूष वर्ष जयदेव के चन्द्रालोक से लिये है।[3] इसमें दीक्षित के निज मनोगत भावों का पण्डितराज जगन्नाथ ने खण्डन कर दिया है।

इसकी प्रसिद्धि का प्रबल प्रमाण तो इसकी दस टीकाओं का होना है-

१- रसिकरंजनी - गङ्गाधर बाजपेयी कृत

२- अलंङ्कार चन्द्रिका - कर्त्ता बैद्यनाथ तत्सत्

३- अलङ्कार दीपिका - पण्डित आशाधरकृत

ये तीनों प्रकाशित हो चुकी हैं। इसके अतिरिक्त अन्य सात टीकायें निम्नवत् हैं-

४-५- नागोजी भट्ट कृत अलङ्कार सुधा एवं विषम पद व्याख्यान

६- न्यायवागीश भट्टाचार्य कृत काव्यमंजरी

७- मथुरानाथ कृत टीका

८- कुखीराम कृत टिप्पण

९- देवीदत्त कृत लघ्वालङ्कार चन्द्रिका

१०- वेङ्गलसूरि कृत बधु रंजनी (अप्रकाशित)

१. चित्रमीमांसा, पृ. ३०६

२. वही, पृ. ३१३

३. कुवलयानन्द, पृ. २, येषां चन्द्रालोके दृश्यन्ते लक्ष्यलक्षणश्लोका: प्रायास्त एव तेषामितरेषां त्वभिनवा विरच्यन्ते।

नक्षत्रवादावली एवं प्राकृत मणिदीप ये दोनों ही ग्रन्थ व्याकरण सम्मत हैं। प्राकृतमणिदीप दीक्षित की रचना है। यह स्वीकार करने में कई आपत्तियाँ आती हैं, किन्तु इसके उपसंहार वाक्य से यह विदित होता है कि यह अप्पय दीक्षित की ही रचना है। आश्रयदाता के नाम से ग्रन्थ के कृतित्व की ख्याति होना कोई आश्चर्य का विषय नहीं है। प्राकृतमणिदीप में शौरसेनी, मागधी और महाराष्ट्री प्राकृतों का बहुश: प्रयोग दीक्षित जी को त्रिविक्रमदेव का उपजीवी द्योतित करता है।

दीक्षित जी की कृतियों का अनुशीलन करने से यह स्पष्ट रूप से विदित होता है कि दीक्षित जी ने अपनी प्रखर मेधा से न केवल संग्राहक वृत्ति का अपितु प्रवीण विवेचक का भी परिचय दिया है। अगर देखा जाय तो एक कुशल समीक्षक के रूप में दीक्षित जी ने ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन की विचारणा, मम्मटाचार्य की स्पष्ट तर्क प्रधान शैली तथा विश्वनाथ आचार्य की अभिव्यक्ति का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत करने की चित्रमीमांसा में भरसक कोशिश की है। दीक्षित जी ने मम्मट की चित्रसम्बन्धी अभिव्यक्ति को और अधिक प्रौढ़ एवं प्रांजल रूप से उपस्थित करने का प्रयास किया है। पण्डित राज जगन्नाथ की सशक्त दार्शनिकता के समक्ष दीक्षित जी भले न ठहर सकें, किन्तु इनकी स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त करने की शैली अति प्रशंसनीय है।

दीक्षित जी का खण्डनात्मक दृष्टिकोण भी अपने ढ़ंग का अद्वितीय है। लक्ष्य-लक्षण ग्रन्थ में इनका प्रमुख ध्यान प्रतिपाद्य विषय (matter) की ओर जितना अधिक है, अलंङ्कार विवेचन की अभिव्यञ्जना प्रणाली की ओर बल्कि उतना नहीं है।

कौन सा अलङ्कार किस प्रकार प्रयोज्य है, यह दीक्षित जी के लिये चिन्तनीय नहीं है, बल्कि उनका लक्ष्य लक्षण के खण्डन-मण्डन की ओर अधिक है। यदि इनकी कोई कमजोरी है तो वह यह कि इनके ग्रन्थों में साहित्य और दार्शनिक वस्तु का ऐसा समन्वय है कि इनके विषय वस्तु और विषयव्यञ्जना में विचित्र असमानता ध्वनित होती है और इसी कारण पण्डितराज को भी इन पर कुछ कहने या लिखने का अवसर मिला।

वरदराजस्तव में उनकी शैली स्वाभाविक और प्रभावकारी है। युक्तियों

की अपूर्वता, भावों की सुन्दरतम अभिव्यक्ति तथा भाषा का अद्वितीय माधुर्य एवं उदाहरणों की अनुकूलता के कारण यह स्तोत्र साहित्य अत्यधिक समाद्रित है।

संस्कृत साहित्य के उज्ज्वल नक्षत्रों में एक पण्डितराज जगन्नाथ का नाम भी आता है। ये दीक्षित के समकालीन और दक्षिण भारत के परस्पर प्रतिद्वन्द्वी विद्वानों में से हैं। पण्डितराज जगन्नाथ का प्रादुर्भाव १६२० ई० से १६६० ई० माना जाता है। इनके पिता का नाम पेरूभट्ट तथा माता का नाम लक्ष्मी देवी था। ये तैलङ्ग ब्राह्मण थे[१] तथा अपनी प्रखर प्रतिभा के बल पर शाहजहाँ के वैभवशाली मुगलदरबार में अपना यौवन व्यतीत किया।[२]

वैभवशाली मुगल सम्राट के दरबार में रहकर भी संस्कृत भाषा के माधुर्य और लालित्य की जो ध्वजा पण्डितराज ने फहरायी, वह आज भी अपने में अद्वितीय है। इन्होंने वहाँ दाराशिकोह को संस्कृत पढ़ाया और वहीं संस्कृत साहित्य के रस माधुरी का पौन:-पुन्येन सम्राट का रसास्वादन कराकर सम्राट के प्रिय पात्र बन गये। इन्होंने बार-बार सम्राट के संस्कृत और आध्यात्म विद्या के प्रति अनुपम अनुराग आदि गुणों को देखकर 'जगदाभरण' नामक काव्य ग्रन्थ का प्रणयन किया। इन्होंने जगह-जगह पर सम्राट की भूरि-भूरि प्रशंसा भी की हैं।[३]

पण्डितराज कवि होने के कारण बड़े ही रसिक थे। दिल्ली में लवङ्गी नाम की यवन कन्या के प्रति इनका प्रेम सर्वत्र अति चर्चित था। यद्यपि यह यवनी सामान्य परिवार की थी, किन्तु उसकी कमनीयता का गुणगान करते ये अघाते नहीं। सिर पर घट धारण किये हुये यवनी का

---

१. तैलङ्गान्वयमङ्गंलालयमहालक्ष्मीदलालालित:।
श्रीमत्पेमरभट्टसुनूरनिशं विद्वल्ललातं तप:।। प्राणाभरणान्ते

२. दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले नीतं नवीनं वय:।

३. दिल्लीश्वरो वा, जगदीश्वरो वा।
मनोरयान् पूरयितुं समर्थ:।।
अन्येन केनापि नृपेण दत्तं।
शाकाय वा स्याल्लवणाय वा स्यात्।।

मधुर चित्र दर्शनीय है।[१]

लवङ्गी के प्रति उनकी यह आसक्ति इतनी विकट थी कि पण्डितराज को रात हो या दिन इनको आराम नहीं था। उसके बिना स्वर्ग के सुख को भी हेय समझने वाले पण्डितराज की रसिकता का आनन्द तो अनुभूति करने योग्य है।[२]

सौभाग्य से पण्डितराज ने वाराणसी में ज्ञानेन्द्र[३] भिक्षु से वेदान्त, शास्त्र, महेन्द्र पण्डित से न्याय वैशेषिक दर्शन तथा अपने पिता से निखिल शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त किया।[४]

यवन कन्या के साथ अपने दुर्दमनीय यौवन को बिताकर ये पुन: जब काशी आये तो वृद्धावस्था में दीक्षित जैसे गणमान्य पण्डितों ने इन्हें **'यवनसंसर्गाद्दूषिताऽयम्'** कहकर तिरस्कृत कर जाति से बहिष्कृत कर दिया। ये उसी पाप का प्रायश्चित करने के लिये **'मधुपुरी मध्ये हरिः सेव्यते'**। मथुरा आकर कृष्ण की आराधना में लग गये और अन्त समय में काशी में पंचगंगा घाट पर बैठकर गंगा लहरी की रचना की। इन जनश्रुतियों में कितना सत्य है यह तो कह पाना बड़ा मुश्किल है किन्तु 'नहि निर्मूला जनश्रुतिः' इस उक्ति को नकारा नहीं जा सकता। भक्त वत्सला गंगा भी इनसे इतनी द्रवित हो गयी कि कहते हैं कि भक्तिभाव से गाये गये एक-एक श्लोक पर

१. न याचे गजालिं नवा वाजिराजिं न वित्तेषु चित्तं मदीयं कदाचित्,
इयं सुस्तनीमस्तकन्यस्तकुम्भा लवङ्गी कुरङ्गी दृगङ्गी करोतु।।

२. यवनीननीतकोमलाङ्गी शयनीये यदि नीयते कदाचित्।
अवनीतलमेव साधु मन्ये न वनी माघवनी विनोदहेतुः।।
यवनी रमणी विपदः शमनी कमनीयतया नवनीत समा।
उहि-उहि वचोऽमृतपूर्णमुखी ससुखी जगतीहयदङ्कगता।।

३. श्रीमज्ज्ञानेन्द्रभिक्षोरधिगतं सकलब्रह्मविद्याप्रपंचः।
काणादीनक्षपादीनपि गहन गिरो यो महेन्द्रादवेदीत्।।
देवादेवाध्यगीष्ट स्मरहरनगरे शासनं जैमिनीयं
शेषाङ्क प्राप्तशेषामलभणितिरभूत्सर्वविद्याधरो यः।। रस०श्लो० २

४. पाषाणादपि पीयूषं स्यन्दते यस्य लीलया,
तं वन्दे पेरूभट्टाख्यं लक्ष्मीकान्तं महागुरुम्। रस०श्लो०

मां पतित पावनी गंगा इनके पास आने लगीं। पांचवें श्लोक तक आते-आते इन्हें अपने उदरस्थ करके इन्हें और इनकी प्रेमिका (धर्म पत्नी) को मुक्ति प्रदान की। यह इनके यवनी प्रणय का अन्तिम प्रायश्चित था।[१]

इसके दूसरी तरफ एक दूसरा मत भी है कि दिल्लीश्वर के दरबार में रहते हुये इनका किसी यवन युवती से प्रेम हो गया और वहीं इन्होंने विवाह कर लिया। कालान्तर में उस यवन युवती की मृत्यु से विरहातुर यह वाराणसी में आये और विद्वज्जनों से तिरस्कार पाकर गंगा लहरी का पाठ करते हुये गंगा प्रवाह में विलीन हो गये।[२]

वस्तुतः यही मत समीचीन लगता है। क्योंकि भामिनी विलास के तृतीय स्तवक को प्रमाण न माना जाये तो रसगङ्गाधर में उद्धृत **''असहायसकलवान्धव-चिन्तामुद्वास्यगुरूकूलंप्रणयाम''** का कोई औचित्य नहीं होगा।

फिर भी जो लोग यह कहते हैं कि वे अपनी कृति गंगा लहरी का पाठ करते हुये यवनी के साथ गंगा में विलीन हो गये वस्तुतः यह भ्रान्ति ही है क्योंकि गंगा लहरी के अनन्तर ही रसगङ्गाधर की रचना हुयी है। उन्होंने रस गङ्गाधर में बहुत से तत्तदलङ्कारों के प्रदर्शनार्थ गङ्गा लहरी के बहुत से पद्य उद्धृत किये हैं।[३]

दूसरी ओर घाट पर किसी यवन युवती के वाहुपाश में आबद्ध व्यक्ति

१. सुरधुनिमुनि कन्ये तारये पुण्यवन्तम् स तरति निज पुण्यैस्तत्र किं ते महत्त्वम्।
यदि हि यवनकन्यां पापिनीं मां पुनीहि तदिह तव महत्त्वं तन्महत्त्वं महत्त्वम्।।
रस० प्रस्तावना, पृ. ३-३९

२. भामिनी विलासस्य तृतीयः स्वतकः प्रमाणम्।

३. (क) वधानद्रागेव द्रढिम रमीणीयं परिकरं।
ध्वनिरूपणेऽर्थान्तरतिरस्कृतवाच्य स्योदाहरणम्। र०, पृ. १४७
(ख) कृतक्षुद्रा घोघानथ सपदि सन्तप्तमनसः। रस० अन्वय, पृ. २०४
(ग) नगेभ्यो यान्तीनां कथय तटिनीनां कमतया। रस०, पृ. २१०
(घ) समृद्धं सौभाग्यं सकल वसुधायाः किमपि तत्। रस०, पृ० २५३

को देखकर दीक्षित का पूर्वार्द्धश्लोक पाठ और उसको सुनकर पण्डितराजजगन्नाथ का उत्तरार्ध पाठ विषयक प्रमाण भी निर्मूल ही होगा। अत: गङ्गाप्रवाह में निमज्जन विषयक कथन निराधार ही प्रतीत होता है।

सारांश यह है कि पण्डितप्रवर जगन्नाथ ने सब कुछ करने के बाद दीक्षित इत्यादि के मतों का खण्डन करके यवनी के संसर्ग दोष परिमार्जन हेतु काशी[१] या मथुरा[२] में भगवद् भजन करते हुये परमपद को प्राप्त हो गये।

पण्डितराज अनेक ग्रन्थों के प्रणेता थे, जिनका संक्षिप्त परिचय अधोलिखित है।

१- **करुणा लहरी**-भगवान विष्णु की स्तुति माधुर्य एवं ललित पद्यों के माध्यम से की गयी हैं।

२- **पीयूष लहरी**-इसे ही गंगा लहरी के नाम से प्रसिद्धि मिली है। पण्डितराज की यह लोकोत्तर कृति आत्मा को शान्ति प्रदान करने वाली है। इसमें भगवती गङ्गा की स्तुति की गयी है।

३- **अमृत लहरी**-इसमें यमश्वसा माँ यमुना की स्तुति की स्तुति की गयी है।

४- **लक्ष्मी लहरी**- एवं ५- **सुधा लहरी** भी उनकी अमृतकाव्य रचना है।

चित्र मीमांसा खण्डनम्- इसमें अप्पय दीक्षित के इस ग्रन्थ के कुछ अंशों का पण्डितराज द्वारा प्रबल तर्कणा के माध्यम से खण्डन किया गया है।

जगदाभरणम्- इसमें शाहजहाँ के पुत्र दाराशिकोह की मनोरम ढंग से प्रशस्ति विद्वद्वर जगन्नाथ ने किया है।

प्राणाभरणम्- इसमें कामरूप देश के राजा प्राणनारायण का मनोहारी वर्णन किया गया है। इसकी टिप्पणी भी कविराज जगन्नाथ ने ही की है।

आसफ विलास- इसमें नवाब आसफ खान के भोग विलास, वैभव, राजकीय क्रिया-कलाप का चित्रण किया गया होगा। ऐसा नाम से अनुमान किया जाता है। यद्यपि यह ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है किन्तु अपने रस गङ्गाधर में दो पद्यों के माध्यम से कवि ने इसका उल्लेख किया है। अत: इस

---

१. सम्प्रत्यन्धकशासनस्य नगरे तत्वं परं चिन्त्यते।

२. सम्प्रत्युज्झितवासनं मधुपुरी मध्ये हरि: सेव्यते। रस०प्रस्ता०, पृ. ४१

नाम का कोई ग्रन्थ अवश्य रहा होगा। ऐसा अनुमान किया जाता है।

भामिनी विलास- इसमें पण्डितराज के द्वारा रचित पद्यों का मनोहारी संग्रह है जो कि सर्व सुलभ है।

मनोरमा कुचमर्दनम्- व्याकरण के उद्भट विद्वान् भट्टोजी दीक्षित के द्वारा रचित **'मनोरमा'** नामक व्याकरण ग्रन्थ का खण्डन लेखक के प्रौढ़ वैदुष्य का परिचायक है।

यमुना वर्णनम्- यह भी यमुना स्तुति का गद्य परक ग्रन्थ है जो कि अनुपलब्ध है। इसके विषय में रस गङ्गाधर में कुछ पद्य उदधृत किये गये हैं।

रसगङ्गाधर- पण्डितराज जगन्नाथ की काव्य तत्व विषयक नैयायिक भाषा शैली में गद्य रूप में लिखा हुआ यह एक विशाल एवं अप्रतिम ग्रन्थ है।

इसमें आनन नामक दो अध्याय हैं। ग्रन्थ के नाम से तथा उसके अध्यायों को दी गयी संज्ञा आनन से यह स्पष्टत: ध्वनित होता है कि पण्डितराज के मनोमस्तिष्क में इसे पंचाननात्मक रूप देना रहा होगा, किन्तु दुर्भाग्य से यह पूर्ण न हो सका।

प्रथम आनन में क्रमश: 'काव्य लक्षण', काव्य विधा, रस, गुण और भाव, ध्वनि आदि का सविस्तार विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

द्वितीय आनन में इस मनीषा ने रस, ध्वनि और अलंकारों पर विचार किया है। अलङ्कारों के अन्तर्गत ७१ अलङ्कारों का विस्तृत विवेचन है। अन्तिम अलङ्कार उत्तर अलङ्कार है। जो कि रस गंगाधर के किसी भी संस्करण में पूर्ण नहीं मिलता है। इस कारण इसकी अपूर्णता सिद्ध होती है। इस अपूर्णता के पीछे कारण जो भी हो किन्तु उनका देह त्याग इसमें कारण नहीं था, इतना स्पष्ट है। इन्होंने चित्र मीमांसा खण्डनम् में स्वयं कहा है कि रसगङ्गाधर के अनन्तर इसकी रचना की जा रही है।

पण्डितराज के परवर्ती नागेश भट्ट द्वारा भी लिखित रस गङ्गाधर की टीका अपूर्ण ही मिलती है। आज तक संस्कृत जगत् को उनके बाद कोई भी ऐसा सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ, जिससे इसे पूर्णत्व प्राप्त होता।

पण्डितराज के समय तक प्राय: काव्यशास्त्र के समस्त सिद्धान्तों एवं सम्प्रदायों के प्रस्थान हो चुकने के बाद भी इस ग्रन्थ को अतिशय सम्मान

प्राप्त हुआ जो कि इस बात का द्योतक है कि काव्यशास्त्र को उससे कुछ ऐसी समृद्धि प्राप्त हुयी जिससे सुधी मानस सहजभाव से उनके ग्रन्थानुशीलन में प्रवृत्त होता है और स्वभावत: साहित्यिक प्रेरणा का अनुभव करता है।

रसगङ्गाधर अपनी गम्भीरता एवं क्लिष्टता के कारण भी व्याख्याताओं, टीकाकारों और अध्येताओं के विशेष आकर्षण का विषय नहीं बन सका। प्राचीन टीकाकारों में नागेश की टीका अति संक्षिप्त होने के कारण मात्र टिप्पणीवत् ही सहायिका का कार्य कर पाने में सक्षम है।

अर्वाचीन विद्वानों द्वारा किये गये तत्सम्बन्धी कार्य अभी तक अनुवादों और सैद्धान्तिक लेखों के रूप में पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित हुये हैं। इनमें श्री बी०ए० रामास्वामी शास्त्री के लेख अन्नामलाई विश्वविद्यालय के जर्नल में प्रकाशित हुये हैं। उन सभी का संकलन Pandit Raj-Astudy नामक पुस्तक के रूप में उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त डॉ० प्रेमस्वरूप गुप्त की 'रसगङ्गाधर का' शास्त्रीय अध्ययन जो कि अलीगढ़ विश्वविद्यालय एवं श्री कमलदेव त्रिपाठी का 'संस्कृत काव्य शास्त्र में पण्डितराज की देन' नामक शोध प्रबन्ध जो कि इलाहाबाद विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुआ है एक स्तुत्य एवं महत्वपूर्ण कार्य है। आगरा विश्वविद्यालय एवं विक्रम विश्वविद्यालय (उज्जैन) में इस पर कुछ कार्य हुआ है।

उपर्युक्त सभी शोध प्रबन्धों में रसगङ्गाधर के किसी एक अङ्ग का ही परिचय मिलता है चाहे वह रसगङ्गाधर की एक लक्षण ग्रन्थ के रूप में प्रतिष्ठा हो अथवा पण्डितराज के उत्कृष्ट पण्डित्य को मुखर करने वाले ग्रन्थ के रूप में उसकी उपादेयता अथवा किसी परिमार्जित सिद्धान्त को प्रस्तुत करने वाले रचना के रूप में उसकी प्रामाणिकता के रूप में हो। इस प्रौढ़ और विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ में पण्डितराज ने प्राय: सभी उदाहरण स्वरचित ही दिये हैं।[१]

---

१. निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं।
काव्यं मयान् निहितं न परस्य किंचित्।
किं सेव्यते सुमनसां मनसापि गन्ध:।
कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण।।

पण्डितराज के समय में सुरभारती के विकास की जो धारा बही वह अपने में अद्वितीय है। इस समय के पण्डितों में नव्यन्याय और व्याकरण के प्रति प्रदर्शित प्रेम उसकी प्रतिभा और गम्भीरता के ही प्रमाण हैं। इस समय अनेक वाक्यों की बात छोड़िये, एक-एक शब्द और एक-एक वर्ण तथा मात्रा को लेकर भी गम्भीर मन्थन चलता था। परिणामस्वरूप अर्द्ध मात्रा लाभ ही उनके लिए इस लोक में सबसे बड़ा लाभ था,[१] जो शैली श्रीमद् अभिनवगुप्तपादाचार्य द्वारा अलङ्कारशास्त्र में अङ्कुरित हुयी, वाग्देवता परावतार श्री मम्मट भट्ट द्वारा कन्दलित हुयी, श्रीमद् अप्पय दीक्षित इत्यादि मनीषियों द्वारा जो पुष्पित हुयी, वही पण्डितराज जगन्नाथ के द्वारा फलवती हुयी, ऐसा कहने में कोई सन्देह नहीं है। न्याय, मीमांसा इत्यादि मार्गों का अनुसरण करने वाली इनकी यह शैली स्तुत्य है। महामहिम कवितार्किक शिरोमणि श्री हर्ष की गर्वोक्ति को पण्डितराज जगन्नाथ ने भी सार्थकता प्रदान की है।[२]

अपनी इस अद्वितीय कृति में पण्डितराज ने 'चित्र मीमांसा' जो कि श्रीमदप्पय दीक्षित की रचना है की जबर्दस्त आलोचना की। इतना ही नहीं जब आलोचना करते-करते उनका मन नहीं भरा तो उन्होंने दीक्षित जी की इस प्रौढ़ कृति के खण्डनार्थ 'चित्रमीमांसाखण्डन' नामक ग्रन्थ लिख डाला। इसमें इन्होंने यत्र-तत्र खण्डन के साथ-साथ विवेक छोड़कर अनावश्यक रूप से दीक्षित जी का उपहास भी किया है।

न तो ये वाग्देवता परावतार मम्मट की तरह अल्पभावी हैं और न विश्वनाथ की तरह विवेचन में कंजूस और न ही दीक्षित की तरह वाणी में एक देशीय। पण्डितराज का तो जैसे विवेचन सर्वोत्कृष्ट है उसी तरह काव्य के क्षेत्र में भी इनकी ऐसी देन है, जिसका कवि हृदय पाठक मुहुर्मुहु: रसास्वादन करता है।

'रस गङ्गाधर' की शैली अतीव स्फीत एवं सहृदयहारिणी है। वक्तव्य

---

१. अर्द्धमात्रालाघवेनपुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणा:। परिभा०, पृ. १३३

२. साहित्ये सुकुमारवस्तुनिदृढ़न्यायग्रहग्रन्थिले।
तर्के वा मयि संविधातरि समं लीलायते भारती।।
शय्यावाऽस्तु मृदूतरच्छदवती दर्भाङ्कुरैरास्तृता।
भूमिर्वा हृदयङ्गमो यदि पतिस्तुल्यारतिर्योषिताम्।। नैषध महाकाव्य, पृ. ८

विषय का प्रतिपादन इन्होंने स्पष्ट, सारगर्भित, प्रौढ़ और मधुर ढंग से प्रतिपादित किया है। पण्डितराज ने प्राचीनों की तरह व्याख्या को अस्पष्ट नहीं, अपितु कारिका इत्यादि में भी कथनीय विषय का सफल स्पष्ट प्रतिपादन किया है।

माँ सरस्वती के दो स्तन के रूप में सङ्गीत और साहित्य की कल्पना मनीषियों ने की है,[१] जिसमें साहित्य शास्त्र की आलोचना को प्राण कहा गया है। इसकी जितनी ही आलोचना होती है वह उत्तरोत्तर मर्मस्पर्शी और फलीभूत होती चली जाती है। रसगङ्गाधर नामक ग्रन्थ में जो-जो साहित्य शास्त्र के विषय प्रतिपादित हैं वे पूर्व की अपेक्षा अतीव विशद, अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव इन तीनों दोषों से रहित है। इस ग्रन्थ का निर्माण इस मनीषी ने चूँकि पूर्व की उठायी गयी आपत्तियों और कमियों को लेकर किया है। अत: एक भी पद संदिग्ध, न्यून, वा अधिक नहीं है। कवि ने रसगङ्गाधर के मङ्गलाचरण के प्रारम्भ में यह प्रतिज्ञा की है कि पूर्व ग्रन्थों का अनुशीलन करने के उपरान्त ही हमने यह ग्रन्थ लिखा है जिसे कोई भी दोष खोजने पर भी न मिले,[२] बल्कि पुराने अन्य ग्रन्थ निष्प्रभ हो जायेंगे। आचार्य मम्मट और विश्वनाथ द्वारा अभिमत सर्वथा निर्दुष्ट काव्य लक्षण भी पण्डित राज के द्वारा युक्त कर दिया गया। रस निरूपण के समय इन्होंने 'समस्त शास्त्रों का सार साहित्य है' यह स्पष्ट रूप से प्रदर्शित करते हुये अभिनव नाट्य शास्त्र के उपस्थापित मत और दार्शनिक सिद्धान्तों का जैसा प्रौढ़ और परिष्कृत विवेचन प्रस्तुत किया है। जिससे समस्त विवेचक, शास्त्र, मर्मज्ञ और गुणमात्र का पक्ष लेने वाले विद्वज्जन आश्चर्यचकित हो जाते हैं।

इन्होंने उपमालङ्कार के प्रसङ्ग में स्वयं पूर्व सभी लक्षणों को आलोचना की कसौटी पर कसा है। इन्होंने अप्पय दीक्षित के उपमालक्षण को प्रबलतम

१. साहित्यमथसङ्गीतं सरस्वत्यास्तनद्वयम्।
एकंमापातमधुरमन्यदालोचनाऽमृतम्। सुरभारती पत्रिका, पु. ६५, १९७२

२. निग्ननेन क्लेशैर्मननजलधेरन्तरुदरं।
मयोन्नीतो लोके ललितरसगङ्गाधरमणि:।।
हरन्नन्तर्ध्वान्तंहृदयमधिरूढ़ो गुणवता।
मलङ्कारन्सर्वानपि गलितगर्वान् रचयतु।। रस० १/४

शास्त्र प्रमाणों से निरस्त कर दिया।[१] उपमालङ्कार जब अर्थालङ्कार है तब शब्द वाचकता अपेक्षित है। वर्णन जब अलङ्काररूप है तब स्वयं शब्द रूप वर्णन शब्द वाच्य कैसे हो सकता है? इसी तरह विश्वनाथ के द्वारा कथित उपमालक्षण भी पण्डितराज के द्वारा निरस्त कर दिया गया।[२] इसी तरह वाग्देवतावतार आचार्य मम्मट का भी उपमालङ्कार लक्षण रमणीय नहीं है **'साधर्म्यमुपमाभेदे'** काव्यप्रकाशकार के इस लक्षण का भी उन्होंने प्रबल तर्कणा से खण्डन किया है। जिसे प्रसङ्गानुसार आगे के अध्यायों में व्याख्यायित किया जायेगा। अलङ्कार सर्वस्वर के उपमा लक्षण को निरस्त कर दिया।[३] रत्नाकरोक्त उपमा लक्षण असमीचीन है। श्लेष मूलक उपमा में श्लिष्ट शब्द रूप धर्म कवि की ही कल्पना है।[४] इस प्रकार सभी लक्षणों का निरुपन करके **'सादृश्यंसुन्दरंवाक्यार्थो-पस्कारकमुपमालङ्कृति:'** रसङ्गाधर में यह उपमा लक्षण उन्होंने सहृदय जनों के सम्मुख स्थापित किया।

संस्कृत साहित्य में पण्डितराज का यह वैशिष्ट्य है कि उन्होंने अपने द्वारा निर्मित लक्षणों का उदाहरण भी स्वयं का ही दिया है। संस्कृत साहित्य में ऐसा उदाहरण देखने को नहीं मिलता, यहाँ तक कि वाग्देवतावतार आचार्य मम्मट, आचार्य कुन्तक, दीक्षित या अन्य जो भी विद्वान् साहित्य में काव्यशास्त्री हुए वे सभी उदाहरण के लिए परमुखापेक्षी हुए।

वाग्देवतावतार काव्य प्रकाशकार आचार्य मम्मट ने अपना सर्वमनोहारी लक्षण तो प्रस्तुत किया है किन्तु दुर्भाग्यवश उन्हें दूसरों द्वारा अनुचित अप्रासङ्गिक उदाहरण को भी न चाहते हुये भी विवशतावश स्वीकार करना पड़ा। पण्डितराज के समक्ष वाग्श्री मानो नतमस्तक होकर दौड़ती हुयी इस तरह आती है कि कवि ने उपस्थित विषय चाहे वह कितना भी दुरूह क्यों

१. उपमितक्रियानिष्पत्तिमत्सादृश्यवर्णनमदुष्टमव्यङ्ग्यमुपमालङ्कार:। चित्र, पृ. ७८

२. स्वत: सिद्धेन भिन्नेन सम्मतेन च धर्मत:।
साम्यमन्येन वर्णस्य वाच्यं चेदेकदोपमा।। रसङ्गाधर, पृ. १६२

३. उपमानापमेययो: साधर्म्ये भेदाभेदतुल्यत्वे उपमाअलङ्कार:। स०सू० ११, पृ. ३९

४. उपमानोपमेयस्य सादृश्यमुपमा। अलं०रत्ना०सू० ७, प्रसिद्धगुणेनोपमानेन अप्रसिद्धगुणस्योपमेयस्य सादृश्यहेतुनागुणादिना धर्मेण साधर्म्यप्रतिपादनमुपमा तत्रैव वृत्ति:।

न हो उसे सरल एवं मनमुग्धकारी बना ही दिया।[1] किन्तु काव्यप्रकाशकार ने रति, सम्भोग शृङ्गार और उन्मत्त देवता विषयक वर्णन समीचीन नहीं है उनका वर्णन पिता-माता के सम्भोग के वर्णन की तरह अनुचित है। इस अनुशासन से बंधे होने पर भी प्रतीयमान व्यंग्य के सम्बन्धासम्बन्ध रूप उदाहरण काव्य प्रकाश में पंचम उल्लास में श्लोक संख्या १३७ पृ० २५२ पर इस प्रकार दिया है-

विपरीतरेलक्ष्मी ब्रह्माणं दृष्ट्वा नाभिकमलस्थम्
हरेर्दक्षिणनयनंरसाकुला झटिति स्थगयति।

काव्य प्रकाश, ५/१३७

उपर्युक्त पद्य में कवि ने कवित्व शक्ति के अभाव में तथा दूसरा समीचीन उदाहरण न मिल पाने के कारण विवश होकर अपने अनुशासन को तोड़ दिया।

पण्डितराज का पाण्डित्य अतीव गम्भीर, प्रौढ़ और समस्त शास्त्रों के अध्ययन स्वरूप परिपक्व हो चुका था। नव्य न्याय शैली का अनुसरण करने से 'रसगङ्गाधर' नामक ग्रन्थ साहित्यिकों के लिये दुष्कर भले हो गया हो किन्तु तत्कालीन वाद-विवाद के युग में संस्कृत वाङ्मय की वह शैली पाण्डित्य की प्रतिष्ठानुकूल ही सिद्ध हुयी। आज भी वाद-विवाद की स्थिति में इस शैली को प्रौढ़ पाण्डित्यानुकूल माना जाता है। परस्पर प्रतिस्पर्द्धा की अग्नि से जलते हुये पण्डितराज को वह शैली अपनानी ही पड़ी। ऐसा मेरा मानना है।

सरस, ललित, कलित, कोमलकान्त पदावली रूप साहित्य शास्त्र में पण्डित लोग सरलतया प्रवेश कर लेते हैं। किन्तु पण्डितराज ने जिस प्रौढ़, परिष्कृत शैली का अनुगमन किया, वह सबके वश की बात नहीं। व्याकरण

---

१. निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपंकाव्यंमयात्र निहितं न परस्य किंचित्।
किं सेव्यते सुमनसां मनसापि गन्धः कस्तूरिका जननशक्तिभृता मृगेण॥
रस० १/५

(क) सादृश्य मात्रयद्युपमातर्हि 'कालोपसर्जने चतुल्यम् ' इत्यादावप्युपमा स्यात्। रस०, उपमा, पृ० ९, पाणिनी सूत्र, १/२/४६

(ख) 'भावप्रधानमाख्याताम्'। रस० उत्पेक्षा, पु० ३९३

शास्त्र में प्रौढ़ व्यक्ति तथा उपनिषदों में पारङ्गत व्यक्ति ही उनके ग्रन्थ का वास्तविक अधिकारी है ऐसा अभिमत प्रकट करते हुये उन-उन शास्त्रों के उदाहरण दिये हैं।[1] अलङ्कारों में मार्मिक शब्द बोध के प्रसंग में दर्शन की जो सरस धारा इस कवि ने प्रवाहित की है वह इनके दर्शन के पाण्डित्य का सूचक है। जहाँ तक इनके दार्शनिकता की बात है वह इन्होंने नव्य न्याय पक्ष का अनुगमन किया है, यद्यपि मीमांसा दर्शन का भी यत्किंचित पुट यत्र-तत्र उदाहरणों के माध्यम से कवि ने प्रदर्शित किया है। प्राचीन लक्षणकारों ने जहाँ व्याकरण के अङ्गभूत रूप से साहित्य शास्त्र को[2] स्वीकार किया है और उसका प्राधान्य[3] भी अपने-अपने ग्रन्थों में मुक्त कण्ठों से स्वीकृत किया है किन्तु रसगङ्गाधर के प्रणेता ने व्याकरण शास्त्र के महत्व को स्वीकार तो किया किन्तु साहित्य शास्त्र को स्वतन्त्र दर्शन के रूप में स्थापित करने का श्रेय इन्हीं को जाता है। **'न च वैयाकरण मत विरोधो दूषणमिति वाच्यमृ, स्वतन्त्रत्वेनालङ्कारिक तन्त्रस्य तद्विरोधस्यादूषणत्वात् रस०उत्प्रे०, पृ० ३०० द्रष्टव्य है।**

पण्डितराज की आलोचना रूप जो पद्धति है वह यथार्थ वाद पर अधारित है जबकि दीक्षित की आलोचना जातीय वैमनष्य को लेकर होने के कारण दोष जन्य और न्यायोचित नहीं है। यही कारण है कि इनके विषय में खण्डन-मण्डन की आवश्यकता बलवती है। जहाँ तक अन्य पूर्ववर्ती आचार्यो यथा वाग्देवतावतार मम्मट और ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन का प्रश्न है उनके विषय में पण्डिराज द्वारा समुचित सम्मान प्रदर्शित किया गया है। मम्मटाचार्य के मत की यत्र-तत्र समालोचना तो दिखायी पड़ती है किन्तु आनन्दवर्धन के विषय में यथार्थवाद की परम्परा का ही इन्होंने अनुसरण

---

१. नानार्थनिरूपण प्रसङ्गे योगशक्तया न सर्वत्राऽथरित्यस्मिनप्रसङ्गे ईशानो भूत भव्यस्य स एवाद्य स उश्वः इति वेदानां वाक्ये किमैश्वर्य विशिष्टः कश्चिजीवोऽत्र प्रतिपाद्यते उतेश्वर इति संशये जीव एवेति पूर्व पक्षे च शब्दादेव प्रमितः। रसगङ्गाधर, पृ. १४५

२. इदमुत्तमतिशयिनी व्यङ्ग्ये वाच्यात् ध्वनिबुधैः कथितः। का०, पृ. ४

३. प्रथमो कि० विद्वासं वैयाकरणाः व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्।
ध्वन्या०, १/१६ का०वृ०

किया है। अमरूक कवि के विषय में प्रशस्ति गान किया है।[१] किन्तु पण्डितराज ने इसमें भी निर्माण सामग्री का दारिद्रय है ऐसा कहकर अपना वैमत्य प्रदर्शित किया है।[२] पण्डितराज ने यत्र-तत्र कविकुल गुरू कालिदास के पुराणमित्येव[३] श्लोक को प्रतिनिधि बनाकर अपने अनुरूप आलोचना पथ का निर्माण किया आज भी सुधीजन वाद-जल्प, वितण्डादि का अनुगमन करके जिस तरह अपने पक्ष को रखते है और परपक्ष का खण्डन किया करते है उसी तरह पण्डितराज ने भी दीक्षित के मत की आलोचना की है। किन्तु पण्डितराज का वैशिष्ट्य इस बात को लेकर है कि उन्होंने प्रत्यक्ष खण्डनार्थ जिस आलोचना पद्धति का अनुगमन किया वह पद्धति अतीव मनोहर, सर्वशास्त्रज्ञानजनिका और सहृदय हृदयहारिणी है। इसी कारण से विद्वज्जन तन्मय होकर उनकी रसमाधुरी का आनन्द लेते हुए देखे जाते हैं। बात चाहे जो भी हो, यह तो मानना ही पड़ेगा कि पण्डितराज जगन्नाथ जैसे अप्रतिम कवि एवं दार्शनिक की ही यह कुशलता का नमूना है कि पाश्चात्य विद्वानों ने इनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। ए०बी० कीथ और काणें जैसे पाश्चात्य मनीषियों ने इनकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करते हुए इनको संस्कृत साहित्य के अन्तिम कवि के रूप में प्रस्तुत किया है।[४] यही बात ए०बी० कीथ ने भी कही कि **''पण्डितराजः संस्कृत साहित्यस्य अन्तिम कविरासीदिति।''**

संस्कृत साहित्याकाश में विशेषकर अलंकार शास्त्र में आलंकारिकों की बात चलने पर भरत, वर्धनाचार्य, अभिनव गुप्त एवं वाग्देवतावतार मम्मटादि को प्रथम श्रेणी में रखा जाता है और वस्तुतः इन सभी का कार्य

१. यथा ह्यमरूकस्य कवेर्मुक्तका:शृंगाररसस्यन्दिनः प्रबन्धायमानाः प्रसिद्धा एव। ध्वन्या० ०३/६३ का०वृ०

२. कवेर्निर्माणसामग्रीदारिद्रयंप्रकाशयति। शून्यंवासगृहमित्यादिश्लोके।। रस० १/७४

३. पुराणमित्येव न साधु सर्वम न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्। सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः।। माल०वि० १/२

४. History of Sanskrit Poetics - Rasgangadhar - This is a standard work poetics particularly on a Alnkaras Jagnnath is the last great write on Sanskrit Poet (P.V. Kane M.A.D. Litt.) रस भूमिका पुरुषोत्तम शर्मा संस्करण

ऐसा है भी कि इन्हे इस कोटि में रखना समीचीन ही है ऐसा कार्य पण्डितराज इत्यादि का तो नहीं ही है, किन्तु पण्डितराज की समीक्षा पद्धति को यदि सामने रखा जाये तो इनका कार्य किसी भी दृष्टि से न्यून नहीं कहा जा सकता है।

जहाँ भरत जैसे आचार्य ने रस सिद्वान्त की स्थापना किया, वर्धनाचार्य ने ध्वनिवाद के वृक्ष का आरोपण किया, अभिनवगुप्त ने रस सिद्वान्त में दार्शनिकता का पुट देकर उसे पुष्पित-पल्लवित किया और मम्मटादि ने उसे व्यवस्थित रूप देकर एक सुव्यवस्थित रूप दिया, वैसा पण्डितराज ने भले ना किया हो यह बात जितनी सत्य है यह बात भी उतनी ही सत्य है कि उनके बिना संस्कृत साहित्य अधूरा ही रहेगा। यदि यह कहा जाय कि जैसे अभिनवगुप्त के बिना भरत का कार्य साहित्य के क्षेत्र में इतिहास बनकर रह जाता, उसी तरह यह भी कहना समीचीन ही होगा कि भरत के आदर्श सिद्धान्त की पूर्ण रूपेण यदि कोई रक्षा कर सका है तो वह अभिनवगुप्त ही है। दर्शन को साहित्य के क्षेत्र में विधिवत स्थापित करने का श्रेय अभिनवगुप्त जैसे आचार्य को है जिन्होंने रस सिद्धान्त की शैवदर्शनानुसारिणी व्याख्या किया। इन्हीं के मार्ग का अवलम्बन करते हुये पण्डितराज ने वेदान्त दर्शन के पथ का अनुगमन करके रस सिद्धान्त की अद्वैत वेदान्तानुसारिणी व्याख्या विधिवत प्रस्तुत किया। इस तरह साहित्य के क्षेत्र में दर्शन के आ जाने से नवीनता सी आ गयी। एक बात जो इनके विषय में कहना अतिशयोक्तिपरक नहीं होगी वह यह है कि सब जगह काव्य में दर्शन की व्यवस्थानुसार व्याख्या करने के बावजूद भी कहीं पूर्ववर्ती विद्वज्जनों जैसा अतिकष्टप्रद और दुष्करता नहीं है। इन्होंने स्पष्ट पद विन्यासों से युक्त मनोहारिणी व्याख्या और स्वनिर्मित उदाहरणों से अपने मत का प्रतिपादन किया है।

वाग्देवतावतार मम्मट का मत भी जहाँ-तहाँ संदिग्ध है, टीकाकार भी उसका (संदिग्ध) आश्रय नहीं ग्रहण करते है किन्तु यदि कहा जाय कि पण्डितराज की व्याख्या से मम्मट का महत्व और अधिक बढ़ गया क्योंकि इनकी स्पष्ट प्रतिपादन शैली से हस्तामलकवत् व्याख्या स्पष्ट होती चली गयी जिससे रंच मात्र भी संदेश का अवकाश नहीं है। अतः इन सभी दृष्टियों से पण्डितराज को साहित्य के क्षेत्र में आचार्य की प्रतिष्ठा प्राप्त हुयी।

इन सभी गहन पर्यालोचनों से यह तथा उभरकर निष्कर्ष के रूप में आता है कि पण्डितराज गम्भीरता की साक्षात् प्रतिमूर्ति, साहित्य के क्षेत्र में दर्शन के व्यवस्थापक और भावुकता के अन्य उपासक, सर्वविधकाव्य निर्माण शक्ति सम्पन्न और विषय प्रतिपादन के अवगाहन में कुशल थे।

पण्डितराज ने रसगङ्गाधर ग्रन्थ के प्रारम्भ में अपना अभिप्राय प्रकट किया है।[१] पण्डितराज जगन्नाथ के द्वारा साहित्य के क्षेत्र में बहुत से नियम प्रतिपादित और स्थापित किये गये, जो कि आने वाली पीढ़ियों के लिये प्रकाश स्तम्भ का कार्य करते रहेंगे। शृंगारादियों में नवीन सरस रचनायें भी प्रस्तुत की गयी। अत: निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि पण्डितराज जगन्नाथ प्रतिभाशालियों में चूणामणि थे।

❖

१. रसगङ्गाधर नामा सन्दर्भोऽयं चिरं जयतु।
किन्च कुलानि कवीनां निसर्ग सम्यंचिरन्जयतु।। रस०, १/८२ श्लोक

द्वितीय अध्याय

काव्यशास्त्र परम्परा में अप्पयदीक्षित एवं पण्डितराज जगन्नाथ का स्थान

प्राचीनकाल में काव्यशास्त्र को मुख्य रूप से काव्यालङ्कार ही कहा जाता था। काव्यशास्त्र का आदि ग्रन्थ काव्यालङ्कार भामहकृत, उद्भट्टकृत काव्यालङ्कार सार संग्रह एवं रूद्रट का ग्रंथ काव्यालङ्कार, वामनकृत काव्यालङ्कार सूत्र इत्यादि ग्रन्थ काव्यशास्त्र के ही उदाहरण हैं।

वामन ने 'सौन्दर्यमलङ्कार:[१] तथा अन्यों ने भी ''काव्यशोभाकरान्धर्मान् अलङ्कारान् प्रचक्षते''[२] कहकर लक्षणा से काव्यालङ्कार का अर्थ काव्य सौन्दर्यपरक शास्त्र है इस अभिमत की पुष्टि की है। इन उपर्युक्त ग्रन्थों में न केवल अलङ्कारों का चित्रण है, अपितु सौन्दर्य बोधक गुण, दोष, रीति इत्यादि जिन भी तत्वों की आवश्यकता होती है उन सभी का प्रतिपादन इसमें निहित है। कालान्तर में छत्रिन्याय से काव्यालङ्कार शब्द के स्थान पर अलङ्कार शास्त्र का प्रयोग होने लगा। प्रतापरुद्रीय टीकाकार ने पृष्ठ ३ पर छत्रिन्याय से काव्यालङ्कार के स्थान पर काव्यशास्त्र को अलङ्कार शास्त्र यह नाम दिया है।[३] किन्तु काव्यालङ्कार शास्त्र नाम देना इसलिये उचित नहीं लगता क्योंकि काव्य का आत्मा अलङ्कार नहीं है वह तो रस हैं। कटक कुण्डलवत् अलङ्कार उत्कर्षाधायक तो हो सकते हैं, जीवनाधायक नहीं। जिस प्रकार शरीर का जीवनाधायक तत्त्व आत्मा है उसी प्रकार काव्य का जीवनाधायक तत्व रस है। अत: अलङ्कार शास्त्र को सौन्दर्यशास्त्र या काव्य सौन्दर्यशास्त्र मानना ही अधिक युक्तिसङ्गत लगता है। विधि-प्रतिषेध रहित होने पर भी किसी गूढ़ तत्व का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ को शास्त्र कहते

१. काव्यालङ्कार सूत्र १-२
२. काव्यादर्श २-१
३. यद्यपि रसालङ्काराद्यनेकविषयमिदं शास्त्रं तथापि छत्रिन्यायेन अलङ्कारशास्त्रमुच्यते। प्रतापरुद्रीय टीका, पृ० ३.

हैं। अत: इसी अर्थ में काव्य के साथ शास्त्र शब्द का प्रयोग युक्ति जान पड़ता है।

मुख्य रूप से ग्यारहवीं शताब्दी में 'सरस्वती-कण्ठाभरण के रचयिता भोज देव ने इस शास्त्र के लिये काव्यशास्त्र पद का प्रयोग किया है।[१] भोजदेव के मत में विधि और निषेध की व्युत्पत्ति अर्थात् ज्ञान के कारण छ: हो जाते हैं– १. काव्य, २. शास्त्र, ३. इतिहास, ४. काव्यशास्त्र, ५. काव्येतिहास, ६. शास्त्रेतिहास।[२]

काव्य के साथ शास्त्र जोड़कर उन्होंने उसकी गौरव वृद्धि तो की है किन्तु, काव्य के आत्मा को वे विस्मृत कर गये। ''अत: शंसनात् शास्त्रं'' से ही गौरव वृद्धि तथा आत्मा को बचाया जा सकता है। काव्य शास्त्र के लिये एक अन्य शब्द साहित्य का प्रयोग भी किया जाता है, जो कि आचार्य विश्वनाथ की देन मानी जा सकती है। आचार्य विश्वनाथ कृत साहित्यदर्पण के पूर्व ग्यारहवीं शताब्दी के साहित्य मीमांसाकार रुय्यक ने भी साहित्य का प्रयोग किया है। किन्तु इस ग्रन्थ को अप्रतिम प्रसिद्धि न मिलने के कारण साहित्यदर्पणकार को ही इसका श्रेय जाता है।

भामह को ही साहित्य शब्द के प्रयोग का आदि प्रवर्तक माना जा सकता है, इनको 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' यह काव्य लक्षण दिया। वक्रोक्ति जीवितकार ने 'साहित्य' शब्द के अभिप्राय को और भी स्पष्ट किया। इनके अनुसार शब्द और अर्थ दोनों के मंजुल सन्निवेश का ही नाम साहित्य है।[३] कालान्तर में नवम् शताब्दी में काव्य मीमांसाकार राजशेखर ने ही पंचमी ''साहित्यविद्या इति यायावर्य:'' लिखकर इसे साहित्यविद्या या साहित्यशास्त्र का नाम दिया।[४] इसके अतिरिक्त इस शास्त्र के लिये क्रियाकल्प का प्रयोग

१. यद्विधौ च निषेधे च व्युत्पत्तेरेव कारणम्।
तदध्येयं विदुस्तेन लोकयात्रा प्रवर्तते। - सरस्वती कण्ठाभरण, पृ० २।१३८.

२. काव्यं शास्त्रेतिहासौ च काव्यशास्त्रं तथैव च।
काव्येतिहास; शास्त्रेतिहासस्तदपि षड्विधम्। - सरस्वती कण्ठाभरणम्, पृ० २।१३६.

३. साहित्यमनयो: शोभा शालितां प्रति काप्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थिति:।। - वक्रो० १।१७.

४. काव्यमीमांसा, पृ० ४.

भी मिलता है।[१] साहित्यशास्त्र के उद्गम के विषय में राजशेखर ने अपनी 'काव्य मीमांसा' में एक पौराणिक आख्या प्रस्तुत की है, वह भले ही प्रामाणिक तत्वों से रहित हो, किन्तु उसके महत्व को स्वीकार तो करना ही पड़ता है।[२]

साहित्यशास्त्र का वेदों से भले ही प्रत्यक्ष सम्बन्ध न हो, किन्तु सर्व विद्याओं के मूल होने से वेदों के अध्ययन से यह तथ्य भली-भाँति उभरकर सामने आता है कि वेद देवों के अमर काव्य कहे गये हैं और इसमें सत्यता भी है।[३] वेद के निर्माता के रूप में परमपिता परमात्मा को 'कवि' इस रूप में कई बार अभिव्यक्त किया गया है। वेद स्वयं काव्य रूप है और उनमें काव्य का सम्पूर्ण सौन्दर्य पाया जाता है। काव्य सौन्दर्याधायक जिन गुण, रीति, अलङ्कार, ध्वनि आदि तत्वों का विवेचन लक्षणकारों ने किया है सब मूलरूप में वेदों में उपलब्ध हैं। माधुर्य, ओज और प्रसाद तीनों गुण यहाँ पाये जाते हैं और इनको आधार पर ही रीतियों का निर्धारण होता है, अत: रीतियों के उदाहरण भी वेदों में विद्यमान हैं। उपमा और रूपक का नवीन जीवन्त उदाहरण प्रस्तुत किया गया है की झाँकी तो देखिये–

उतत्व: पश्यन् न ददर्श वाचं उतत्व: श्रृण्वन् न श्रृणोत्येनाम्।
उतोत्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्ये उषती सुवासा:।।[४]

अर्थात् कुछ लोग ऐसे हैं जो देखते हुये भी वाणी के स्वरूप को नहीं देख पाते हैं और सुनकर भी उनको सुन नहीं पाते हैं। सुन्दर और प्रसाद गुण युक्त इस मनोहारी उदाहरण के माध्यम से क्या विरोधाभास दिखाया गया है। आगे कहा कि तीसरे वे लोग हैं जिनके सामने वाणी अपना सारा सौन्दर्य इस प्रकार खोलकर रख देती है जैसे नूतन सुन्दर परिधानों में अलङ्कृत प्रेयसी अपने प्रेमी (पति) के सामने अपने सौन्दर्य को प्रस्तुत कर देती है। यह उपमा साहित्यशास्त्र में अन्यत्र ढूँढ़े नहीं मिलेगी। क्या अनूठी कल्पना है? इसी तरह

१. क्रियाकल्पविदश्चैव तथा काव्यविदो जनान्।

२. अथात: काव्यं मीमांसिष्यामहे यथोपदिदेश - श्रीकृष्ण:.........
अष्टादशाधिकरणी प्रणीता। काव्य मीमांसा- पृ० ३-४.

३. देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति।

४. ऋग्वेद - १०-७१-४.

दर्शनशास्त्र के मौलिक तत्वों का प्रतिपादन भी जगह-जगह पर मिलता है।[१]

रूपक अलंकार के माध्यम से ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीनों तत्वों को दो पक्षियों और एक वृक्ष के रूप में प्रदर्शित करते हुये व्यक्त किया गया है। दो सुन्दर पंखों वाले, साथ रहने वाले और मित्ररूप पक्षी हैं, वे दोनों पक्षी एक समान वृक्ष अर्थात् प्रकृति पर अवलम्बित हैं। उन दोनों में से एक जीव उस वृक्ष के फलों को खाता है। (अर्थात् जीवात्मा अपने कर्मानुसार फलों का भोग करती है) दूसरा पक्षी अर्थात् परमात्मा फलों का भोग न करता हुआ संसार में चारों ओर अपने प्रकाश को (सौन्दर्य को) फैला रहा है। इसमें अनुप्रास, विभावना दोनों ही अलंकार हैं। इस तरह सैकड़ों ऐसे मन्त्र हैं जिनमें साहित्यशास्त्र के मौलिक तत्वों का सुन्दर समावेश है। अलंकारशास्त्र की प्राचीनता तो वेदों, ब्राह्मण और आरण्यक ग्रन्थों तक में मिलती है। अतः राजशेखर ने अलंकारशास्त्र की श्रेष्ठता को स्वीकार किया है।[२] अग्निपुराण में दृश्य काव्य एवं श्रव्य काव्य की चर्चा की गयी है, किन्तु आधुनिक विद्वान इस विषय में एकमत नहीं है।[३] इसलिये साहित्यशास्त्र में भरत प्रणीत 'नाट्यशास्त्र' को सभी ग्रन्थों में प्राचीन माना गया है। इसके अनुसार आचार्य भरत द्वारा चारों वेदों का सार भाग लेकर पंचम वेद, नाट्य वेद की रचना शूद्रों तक को भी निःश्रेयस का पात्र बनाने हेतु की गयी।[४] इसके बाद कश्यप, वररुचि आदि ने भी आलङ्कारिक ग्रन्थ बनाये। काव्यादर्श के श्रुतानुपालिनी टीका में भी दण्डी के पूर्व आलङ्कारिकों में कश्यप, ब्रह्मदत्त, नन्द स्वामी इत्यादि के नामों का उल्लेख तो है, किन्तु इनके द्वारा निर्मित

---

१. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥

२. उपकारकत्वादलङ्कारः सप्तभङ्गमिति यायावरीयः ऋते च तत्स्वरूप परिज्ञानादेवार्थानवगतिः। काव्य मीमांसा, पृ० १२/३ख-पंचमी
साहित्य विद्येति यायावरीयः। सा च चतसृणामपि विद्यानां निष्यन्दरूपा। तत्रैव, पृ० १८.

३. पुराण विमर्शः, पृ० ५५२ (आचार्य बलदेव उपाध्यायः)

४. जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामेभ्यो गीतिमेव च
यजुर्वेदादभिनयान्! रसानाथर्वणादपि॥ नाट्यशास्त्र १।७७.

ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं हैं। रूद्रदामन के शिलालेख की भाषा अलङ्कारपूर्ण नहीं है, किन्तु अलङ्कारशास्त्र के कतिपय सिद्धान्तों का निर्देश है। व्याकरणशास्त्र के प्रणेता पाणिनि[१] पूर्ववर्ती यास्क के निरुक्त[२] तथा गार्ग्य के गर्ग संहिता में[३] तथा यही नहीं उपनिषदों में भी अलङ्कार का उदाहरण प्राप्त होता है।[४] जो कि अलङ्कार शास्त्र की प्राचीनता को ही सिद्ध करता है।

वैदिक साहित्य एवं विक्रम के समय से लगभग ५०० वर्ष पूर्व पाणिनि के काल तक अलङ्कारशास्त्र पर भले ही अलङ्कारशास्त्र के मौलिक तत्वों का प्रतिपादन किया गया हो किन्तु उसका सुश्लिष्ट शास्त्रीय निरूपण मुख्यतः भरतमुनि से प्रारम्भ होता है। इनके द्वारा साहित्यशास्त्र क्षेत्र के समस्त विषयों का सम्यक् विवेचन प्राप्त होता है। इस समय को हम प्रारम्भिक काल के नाम से जान सकते हैं।

द्वितीय काल अलङ्कार सम्प्रदाय के उद्भावक एवं पृष्टपोषक के रूप में भामह, दण्डी, रुद्रट इत्यादि आचार्यों का नाम लिया जा सकता है। इसी बीच रीति सम्प्रदाय की भी स्थापना हुयी। यह काल मुनि भरत से लेकर आनन्दवर्धनपर्यन्त माना जाता है।

तृतीयकाल आनन्दवर्धन से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक का है।

चतुर्थकाल को पण्डितराज से लेकर विश्वेश्वर पण्डित तक माना जा सकता है। इस काल विभाग को हम इस तरह रेखांकित कर सकते हैं-

१. प्रारम्भिक काल - ई० पूर्व० से मुनि भरतपर्यन्त।
२. द्वितीय काल - मुनि भरत से लेकर आनन्दवर्धन तक।
३. आनन्दवर्धन से लेकर पण्डितराज पर्यन्त।
४. पण्डितराज से विश्वेश्वर तक।

---

१. पाराशर्य शिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः अष्टा ४।३।११०.
कर्मन्दकृशाश्वादीनि- तत्रैव ४।३।१११.

२. यथावासो यथावनं यथा समुद्रं सृजति नि० ५।७८।८

३. उपमा यत् अतत् तत्सादृश्यम् गर्ग संहिता।

४. आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेवतु
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥ कठोपनि०-

आचार्य विश्वेश्वर ने इस काल विभाग को अन्य तरह से प्रस्तुत किया है जो कि साभार प्रस्तुत है-

प्रारम्भिक काल :

अज्ञात काल से प्रारम्भ होकर सत्रहवीं शताब्दी के भामह तक का है। इसमें मुख्यरूप से भरत और भामह दो आचार्यों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। भरत के नाट्यशास्त्र में जो भी विवेचन है, वह सब मूलभूत है, बीजभूत है। भरत के बाद मेधावी रुद्र आदि टीकाकार तो हैं किन्तु उनके ग्रन्थ दुर्भाग्य से उपलब्ध नहीं हैं। भामह ने अपने काव्यालङ्कार में भरत से हटकर ३८ स्वतन्त्र अलङ्कारों का विवेचन किया है।

रचनात्मक काल :

यह काल भामह से लेकर आनन्दवर्धन तक फैला हुआ है। इसे साहित्यशास्त्र में यदि स्वर्ण युग के नाम से कहा जाये तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। साहित्यशास्त्र के समस्त सम्प्रदाय, अलङ्कार सम्प्रदाय, रीति सम्प्रदाय, रस सम्प्रदाय, ध्वनि सम्प्रदाय इसी काल की देन है। इनके आचार्य निम्नवत् हैं :-

१. अलङ्कार सम्प्रदाय - भामह, उद्भट, रुद्रट।

२. रीति सम्प्रदाय - दण्डी, वामन।

३. रस सम्प्रदाय - लोल्लट, शङ्कुक, भट्टनायक।

४. ध्वनि सम्प्रदाय - आनन्दवर्धनाचार्य।

अलङ्कार सम्प्रदायवादी आचार्य जैसे भामह, उद्भट, रुद्रट आदि जहाँ एक तरफ काव्य के वाह्य अलङ्कारों का निरूपण करते हैं, वहीं दण्डी और वामन ने काव्य के रीति और गुणों की व्यवस्था की। लोल्लट, शङ्कुक और भट्टनायक ने आचार्य भरत के रस सिद्धान्त की जहाँ व्याख्या की, वहीं आचार्य आनन्दवर्धन ने 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नात् पूर्वः' कहकर ध्वनि सिद्धान्त की अपने प्रबल तर्कणा से स्थापना किया।

निर्णयात्मककाल :

यह महत्वपूर्ण काल आनन्दवर्धन से लेकर आचार्य मम्मट तक का

काल है जो कि स्वर्ण युग की चरम परिणति कही जा सकती है। इस युग के सुप्रसिद्ध आचार्य लोचन एवं अभिनव टीकाकार अभिनव गुप्त, वक्रोक्तिजीवित के प्रणेता आचार्य कुन्तक, व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट आदि हैं। इनमें से जहाँ तक कुन्तकाचार्य वक्रोक्तिजीवित ग्रन्थ के माध्यम से वक्रोक्तिसिद्धान्त के प्रबल-प्रतिपादक हैं वहीं दूसरी ओर महिमभट्ट का व्यक्ति विवेक ग्रन्थ ध्वनिसिद्धान्त का प्रबल विरोधी ग्रन्थ है। इनके अतिरिक्त धनिक, धनंजय आदि भी इसी काल की अनुपम देन हैं।

व्याख्या काल :

आचार्य मम्मट से लेकर जगन्नाथ और विश्वेश्वर पण्डित तक का यह काल अति महत्वपूर्ण है। इनके अतिरिक्त हेमचन्द्र, विश्वनाथ और जयदेव आदि ने काव्य का साङ्गोपाङ्ग विवेचन प्रस्तुत किया है। इस काल के आचार्यों का वर्गीकरण निम्नवत् है जो कि आचार्य विश्वेश्वर ने प्रस्तुत किया है।

ध्वनि सम्प्रदाय	:	मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ, हेमचन्द्र, विद्याधर, विद्यानाथ, जयदेव तथा अप्पय दीक्षित आदि।
रस सम्प्रदाय	:	शारदातनय, शिङ्भूपाल, भानुदत्त, रूप-गोस्वामी।
कवि शिक्षा	:	राजशेखर, क्षेमेन्द्र, अरि सिंह, अमरचन्द्र आदि।
अलङ्कार सम्प्रदाय	:	पण्डितराज जगन्नाथ, विश्वेश्वर पाण्डेय आदि।

कुछ विद्वानों ने ध्वनिसिद्धान्त को साहित्यशास्त्र का मुख्य सिद्धान्त स्वीकार किया और इस तरह से उन्होंने साहित्यशास्त्र को तीन भागों में विभक्त किया।

१. पूर्व ध्वनिकाल	:	इसे प्रारम्भ से लेकर आनन्दवर्धन ८०० विक्रमी तक माना जा सकता है।
२. ध्वनिकाल	:	इसे आनन्दवर्धन से लेकर मम्मट १००० विक्रम तक माना जाता है।

३. पश्चात् ध्वनिकाल या

उत्तर ध्वनिकाल : मम्मट से लेकर आचार्य जगन्नाथ १७५० विक्रमी तक माना जाता है।

कुछ लोगों ने रस को काव्य की आत्मा कहा तो कुछ ने अलंकारों को। किसी ने रीति को आत्मा माना तो किसी ने ध्वनि और वक्रोक्ति को। इस तरह साहित्य शास्त्र में (१) रस सम्प्रदाय (२) अलङ्कार सम्प्रदाय (३) रीति सम्प्रदाय (४) ध्वनि सम्प्रदाय (५) वक्रोक्ति सम्प्रदाय- ये पाँच सम्प्रदाय प्रसिद्ध हैं। भरत से लेकर पण्डितराज तक जो स्रोतस्विनी वाग्धारा प्रवाहित हुयी वह इन्हीं सम्प्रदायों में कहीं न कहीं समाहित है। इसका विवरण अधोलिखित है-

१. रस सम्प्रदाय :

आचार्य नन्दिकेश्वर को राजशेखर ने अपने ग्रन्थ काव्य मीमांसा में रससम्प्रदाय का प्रतिष्ठापक माना, किन्तु इनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। अत: आचार्य भरत को ही इस सम्प्रदाय का पोषक माना जाता है। ''विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पति:'' ''यह प्रसिद्ध सूत्र ही नाट्यशास्त्रकार द्वारा रससिद्धान्त का प्राणभूत तत्व स्वीकृत किया गया। उत्तरवर्ती आचार्यों ने इसी को आधार मानकर रस की मार्मिक व्याख्या प्रस्तुत की है। आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र के छठें अध्याय में रसों का और सातवें अध्याय में भावों का सविस्तार विवेचन प्रस्तुत किया है जो कि कालान्तर में रससिद्धान्त की आधारशिला बनी। रससिद्धान्त के व्याख्याकार के रूप में भट्टनायक, भट्ट लोल्लट, शङ्कुक, अभिनव गुप्त आदि आचार्य प्रसिद्ध हैं।

२. अलङ्कार सम्प्रदाय :

इसके प्रतिपादक आचार्य भामह हैं इन्होंने रस की सत्ता तो माना, किन्तु उसे प्रधान न मानकर अलङ्कार को प्रधानता प्रदान की। इनमें उद्भट्ट, दण्डी, रुद्रट, प्रतिहारेन्दुराज तथा जयदेव आदि आते हैं। इन्होंने कहा कि अलङ्कारविहीन काव्य की सत्ता वैसे ही नहीं मानी जा सकती जैसे कि उष्णता के अभाव में अग्नि का अस्तित्व। जयदेव ने अपने चन्द्रलोक में तो व्यङ्ग्य के माध्यम से अपनी बात कही-

''अङ्गीकरोति य: काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलङ्कृती।।''

अलङ्कार सम्प्रदायवादियों ने काव्य में अलङ्कारों की महत्ता को स्वीकार किया तथा रसवत्, प्रेय उर्जस्वित और समाहित इन चार प्रकार के रसवदलङ्कारों में उनका अन्तर्भाव स्वीकृत किया।

***रसवद्दर्शित स्पष्टश्रृङ्गारादि रसं यथा-* भामह, काव्यालङ्कार ३-६.**

***मधुरे रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थिति:।* दण्डी काव्यादर्श ३-५१.**

३. रीति सम्प्रदाय :

'रीतिरात्मा काव्यस्य' इस सूत्र के माध्यम से रीति को काव्य की आत्मा मानने वाले आचार्य वामन इसके प्रणेता हैं। ''विशिष्टपदरचनारीति:'' अर्थात् विशिष्ट पदरचना का नाम ही रीति है। रचना में माधुर्यादि गुणों का समावेश ही विशेषता है और यही विशेषता ही रीति है। रीति सम्प्रदाय को कहीं-कहीं गुण सम्प्रदाय के नाम से जाना जाता है। गुणों तथा अलङ्कारों के विवेचन के प्रसङ्ग में आचार्य वामन ने ''काव्यशोभाया: कर्तारो धर्मा गुणा: तथा ''तदतिशयहेतवस्तवलङ्कारा'' इन दोनों सूत्रों के माध्यम से भेद प्रदर्शित किया तथा गुणों को विशेष महत्व दिया। वामनाचार्य ने काव्य में रीति की प्रधानता को स्वीकारा तथा अलङ्कारों को गौण बताया। आचार्य मम्मट ने रीति को 'रीतयोऽवयवसंस्थानविशेषवत्'' शरीर के अङ्गों की तरह ही माना इससे अधिक कुछ नहीं।

४. वक्रोक्ति सम्प्रदाय :

''वक्रोक्ति: काव्यस्य जीवितम्'' कहकर आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति सम्प्रदाय की स्थापना की तथा रीति सम्प्रदाय ने इस मन्तव्य कि ''रीति ही प्रधान तत्व है'' को नकार दिया। दण्डी ने ''भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम'' तथा वामन ने ''सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्ति:'' कहकर वक्रोक्ति के महत्व का प्रतिपादन तो किया किन्तु उन सबसे मत से वक्रोक्ति सामान्य अलङ्कारादिरूप ही है। आचार्य कुन्तक ने इसके महत्व का प्रतिपादन किया। वामन की पांचाली, वैदर्भी, गौड़ी आदि रीतियों को देश भेद के आधार पर

न मानते हुये रचना शैली के आधार पर कुन्तक ने वामन की वैदर्भी रीति को सुकुमार मार्ग, गौड़ी को विचित्र मार्ग तथा पांचाली को मध्यममार्ग नाम दिया।

५. ध्वनि सम्प्रदाय :

सभी सम्प्रदायों में ध्वनि सम्प्रदाय सबसे अधिक प्रबल एवं महत्वपूर्ण सम्प्रदाय रहा। ''काव्यस्यात्मा ध्वनिः'' यह कहकर काव्य की आत्मा ध्वनि मानने वाले आचार्यों ने ध्वनि सिद्धान्त को स्थापित किया। ध्वनि प्रतिष्ठापक परमाचार्य मम्मट ने प्रबल तर्कणा के माध्यम से सभी विरोधियों का खण्डन किया। विरोधों के बावजूद भी यह ध्वनि सिद्धान्त हीरे की तरह चमकता गया।

काव्यशास्त्र की परम्परा में आचार्य भरत से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक जो भी धारा बही है उनका सिंहावलोकन आवश्यक है-

१. भरतमुनि :

साहित्यशास्त्र के आकाशदीप के रूप में सबसे प्राचीन आचार्य भरत का नाम सर्वप्रथम सादर लिया जाता है। यहाँ हमारा तात्पर्य नाट्यशास्त्र के प्रवर्तक भरतमुनि से है। यह कोई काल्पनिक व्यक्ति नहीं अपितु ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। मत्स्यपुराण के २४वें अध्याय में २७ से ३२वें श्लोक तक भरतमुनि का पौनःपुन्येन उल्लेख किया गया है।

महाकवि कालिदास ने 'विक्रमोर्वशीयम्' से २-१८ के अन्तर्गत इनको आदर पूर्वक याद किया है-

'मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयः प्रयुक्तः
ललिताभिनयं तमद्य भर्ता मरुतां द्रष्टुमनाः सलोकपालः।।'

-विक्रमो० २।१८

संस्कृत नाट्य परम्परा में प्रायः सभी नाटकों की समाप्ति भरत वाक्य से ही होती है अतः 'भरत' किसी काल्पनिक व्यक्ति का नाम न होकर ऐतिहासिक है।

भरतमुनि का एक मात्र ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र जो कि समस्त कलाओं का विश्वकोष है, न कि केवल नाट्य के विषय का ही विवेचन है, इसका परिचय आचार्य भरतमुनि ने स्वयं देते हुये कहा है कि-

''नतज्ज्ञानं नतच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते।''

इसे षट्साहस्त्री संहिता भी कहते हैं क्योंकि इसमें ६००० श्लोक हैं। संगीत रत्नाकर के लेखक श्री शार्ङ्गदेव ने भरत के ६ टीकाकारों का उल्लेख किया है-

''व्याख्यातारो भारतीये लोल्लटोद्भटशङ्कुकाः
भट्टाभिनवगुप्तश्च श्रीमान् कीर्तिधरोऽपरः।''

समालोचना पद्धति के प्रथमावतार के रूप में आचार्य भरत का नाम अग्रगण्य है। अभिनव भारती में जहाँ नाट्यशास्त्र में ३६ अध्याय दिखाये हैं वहीं इसके प्रथम संस्कारण में ३७ अध्याय हैं :-

ता एता ह्याचार्या एकप्रघट्टकतया पूर्वाचार्यलक्षणत्वेनपठिताः। मुनिना तु सुखं संग्रहायं यथास्थानं निवेशिता इति साम्प्रतिकं नाट्यशास्त्रं सप्तत्रिंशदध्यायेषु विभक्तम्, क्वचिच्चषट्त्रिंशदध्यायकम्। (नाट्यशास्त्र अभिनव भा० ६)।

२. मेधावी :

यद्यपि भामह तथा परवर्ती ग्रन्थकारों के द्वारा इनके सिद्धान्तों की चर्चा की गयी है। किन्तु इस अलङ्कारशास्त्री द्वारा लिखित कोई भी ग्रन्थ आज दुर्भाग्य से प्राप्त नहीं है। राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में इन्हें जन्मान्ध बताया है :-

प्रत्यक्षप्रतिभावतः पुनरपश्यतोऽतिप्रत्यक्ष इव। यतो मेधाविरुद्रकुमार-दासादयः जन्मान्धा 'कवयः श्रूयन्ते।' काव्य मीमांसा, पृ० ११-१२.

३. भामह :

आचार्य भरत के बाद और भामह से पूर्व का अनेकों शतक का समय अन्धकारपूर्ण था। इसी कड़ी में भरत के अनन्तर काव्यालङ्कार सर्वप्रथम ग्रन्थ है। प्रताप रुद्रभूषण में विद्यानाथ के द्वारा मङ्गलाचरण में इनका नाम सादर

लिया गया है।[१]

ध्वन्यालोक की लोचन टीका में भी इनके नाम का उल्लेख इनके महत्व को ही प्रतिपादित करता है।[२] काव्य प्रकाशकार ने भी चित्रकाव्य के समर्थनार्थ इन्हीं के वचन को प्रमाण रूप में उद्धृत किया है।[३] इन्होंने अपने ग्रन्थ में ३८ अलङ्कार लक्षणों की रचना की। यही नहीं सभी अलङ्कारों में वक्रोक्ति ही प्रधान है। यह स्पष्ट रूप से स्वीकार भी किया। ''कालोऽलङ्कारोऽनया बिना''[४] इन्होंने अपने काव्यालङ्कार ग्रन्थ में रीति, गुण, दोष, वक्रोक्ति रसवदलङ्कारों के आश्रयीभूत रस का विवेचन किया। इन्होंने ''न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्'' कहकर अन्यान्य सिद्धान्तों की भी स्थापना अपने प्रबल तर्कणा के माध्यम से इस ग्रन्थ में की है। जैसे-

१. **शब्दार्थौ काव्यम्।**

२. **भरत प्रतिपादितदशगुणानां माधुर्यादिगुणत्रयेष्वन्तर्भावः।**

३. **वक्रोक्तेः समस्तालङ्कार मूल भूतत्वम्।**

४. **दशविधदोषाणां सम्यक्तया विवेचनं च।**

भामह के (१) काव्यालङ्कार (२) प्राकृत मनोरमा (३) छन्द:शास्त्र विषयक जिसमें दो तो उपलब्ध हैं किन्तु तीसरे का अनुमान किया जाता है प्राकृत मनोरमा प्राकृत प्रकाश की टीका है और काव्यालङ्कार एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। जिसमें छ: परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद **काव्यशरीर** है। इसमें ६० श्लोक हैं। द्वितीय और तृतीय परिच्छेद **अलङ्कारवर्णन** विषयक है जिसमें १६० श्लोक हैं। चतुर्थ परिच्छेद **दोषनिरूपण** है और इसमें ५० श्लोक हैं। पंचम परिच्छेद **न्याय निर्णय** का है और इसमें ७० श्लोक हैं। षष्ठ परिच्छेद

---

१. पूर्वेभ्यो भामहादिभ्य: सादरं विहितांजलि:।
वक्ष्ये सम्यगलङ्कार शास्त्रं सर्वस्य संग्रहम्।। - प्रताप १। मंङ्गलाचरण

२. ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे यमकादि निबन्धनम्।
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषत:।। - ध्वन्या० लोचन २।३८

३. काव्य प्रकाश - ६।४८

४. सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते। तेनात्र यत्न: कार्य
कोऽलङ्कारोऽनया विना'। - काव्यालङ्कार २।८५

शब्द शुद्धि विवेचन का है इसमें ६० श्लोक हैं। भामह ने स्वयं इसका विवेचन प्रस्तुत किया है-

षष्ठ्या शरीरं निर्णीतं शतषष्ठ्या त्वलङ्कृति।
पञ्चाशता दोषदृष्टिः सप्तत्या न्यायनिर्णयः।।
षष्ठ्या शब्दस्य शुद्धिः स्यादित्येवं वस्तुपञ्चकम्।
उक्तं षड्भिः परिच्छेदः भामहेन क्रमेण वः।।

दण्डीः दण्डी का कार्यकाल अष्टम शताब्दी में पड़ता है जिसको उन्होंने **अवन्तिसुन्दरी** कथा में निरूपित किया है। अलङ्कारशास्त्र पर भामह के बाद स्वतन्त्र रूप से इन्होंने ग्रन्थ लिखा है जिसका नाम काव्यादर्श है। ''काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते'' यह कहकर काव्य शोभाधायक अनेक अलङ्कारों का वर्णन इन्होंने किया है और गुणों की विशेष महत्ता प्रदर्शित की। अलङ्कार सम्प्रदायवादी दण्डी ने भामह की समीक्षा भी की है। राजशेखर ने निम्न श्लोक से दण्डी के तीन ग्रन्थों का उल्लेख किया है-

त्रयोऽग्नयस्त्रयो वेदा त्रयोदवास्त्रयो गुणाः।
त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुतः।।

दण्डी के ये तीन ग्रन्थ (१) काव्यादर्श (२) दशकुमारचरित (३) अवन्तिसुन्दरीकथा प्रसिद्ध है।

संस्कृत साहित्य में दण्डी एक महाकवि के रूप में प्रसिद्ध हैं-

जाते जगति बाल्मीकौ कविरित्यभिधाऽभवत्।
कवी इति ततो व्यासे कवयस्तवयि दण्डिनि।।

उनकी इस प्रसिद्धि का आधार मूल रूप से दशकुमारचरित को जाता है-

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्ये माघे सन्ति त्रयो गुणाः।।

काव्यादर्श के प्रथम परिच्छेद में काव्य का लक्षण, काव्य के विविध भेद, कथा-आख्यायिका का भेद प्रदर्शन और खण्डन तथा अन्त में कवित्व

शक्ति हेतु प्रतिभा, श्रुत तथा अभियोग इन तीन गुणों की अनिवार्यता बताई गयी है।

द्वितीय परिच्छेद में ३५ अलङ्कारों के लक्षण तथा उदाहरण दिये गये हैं।

काव्यादर्श के तृतीय परिच्छेद में यमक का सविस्तार विवेचन प्रस्तुत किया गया है। अन्त में इस प्रकार के दोषों का विवेचन प्रस्तुत है।

भट्टोद्भट या उद्भट :

इस अलङ्कार शास्त्री का जन्म कश्मीर में हुआ था। ये कश्मीर नरेश जयादित्य की सभा के राजपण्डित ही नहीं, अपितु सभापति भी थे। इस तरह से उद्भट का आठवीं शताब्दी का अन्तिम तथा नवम् शताब्दी का प्रथम भाग माना जा सकता है।

भट्टोद्भट के ३ ग्रन्थ- १. भामह विवरण, २. काव्यालङ्कार सारसङ्ग्रह, ३. कुमारसम्भव है। इनमें से भामह विवरण जो कि भामह के काव्यालङ्कार के व्याख्या के रूप में है सम्प्रति अनुपलब्ध है। दूसरा कुमारसंभव है जो कि महाकवि कालिदास के 'कुमारसम्भव' नामक ग्रन्थ से भिन्न है। काव्यालङ्कार सारसंग्रह ६ वर्गों में विभक्त इस ग्रन्थ में कुल ७९ कारिकायें और ४१ अलङ्कारों का लक्षण दिया गया है। उपर्युक्त ४१ अलङ्कारों का वर्णन ७९ कारिकाओं में किया गया है और प्राय: शताधिक श्लोक लक्षणकार ने अपने ग्रन्थ 'कुमारसम्भव' से उद्धृत किये हैं। उद्भट ने (१) पुनरुक्तवदाभास (२) काव्यलिङ्ग (३) छेकानुप्रास (४) दृष्टान्त और (५) सङ्कर इन सबको एक रूप में स्थापित किया है। साथ ही साथ रसवत्, प्रेय, उर्जस्वित समाहित और शिलष्ट ये ५ ऐसे अलङ्कार हैं जिनका लक्षण अगर किसी ने स्पष्ट किया है तो वे उद्भट ही हैं। इस प्रकार पुनरुक्तवदाभास इत्यादि ५ अलङ्कारों की स्थापना तथा रसवत् इत्यादि ५ अलङ्कारों के लक्षणों का स्पष्टीकरण इनकी साहित्यशास्त्र को अनुपम देन है।

भरत के नाट्यशास्त्र के टीकाकार के रूप में भी इनका नाम सहर्ष लिया जाता है। शार्ङ्गदेव ने अपने सङ्गीत रत्नाकर में नाट्यशास्त्र में व्याख्याताओं की सूची निम्न रूपेण प्रकाशित की है-

व्याख्यातारो भारतीये लोल्लटोद्भटशङ्कुकाः।
भट्टाभिनवगुप्तश्च श्रीमद् कीर्तिधरोऽपरः।।

वामन :

रीति सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य वामन का नाम प्रमुख अलङ्कार शास्त्रियों में समादरपूर्वक लिया जाता है। 'रीतिरात्मा काव्यस्य' कहकर इन्होंने रीति को काव्य की आत्मा कहा। उद्भट के समान वामन भी कश्मीर नरेश जयादित्य के राज्यमंत्री थे। इसे राजतरंगिणी में इस प्रकार वर्णित किया गया है-

मनोरथः शङ्खदत्तश्चटकः सन्धिमांस्तथा।
बभूवुः कवयस्तस्य वामनाद्याश्च मन्त्रिणः।।

- राजतरङ्गिणी ४-४९७

जयादित्य के शासनकाल में होने के कारण इनका समय आठवीं शताब्दी का उत्तरार्ध और नवम् शताब्दी का प्रारम्भ माना जा सकता है।

अलङ्कारशास्त्र में अप्रतिम सूत्रशैली में लिखा गया काव्यालङ्कार सूत्र एक ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ पाँच अधिकरणों में विभक्त है और प्रत्येक अधिकरण दो या तीन अध्यायों में विभक्त है, अत: सम्पूर्ण ग्रन्थ में बारह अध्याय हैं। कुल सूत्रों की संख्या ३१२ है।

प्रथम अधिकरण का नाम शरीराधिकरण है और उसमें तीन अध्याय हैं। द्वितीय अधिकरण का नाम 'दोषदर्शनाधिकरण' है इनमें दो अध्यायों में ग्रन्थकार ने काव्य के दोषों का विवेचन किया है। तीसरे अधिकरण का नाम गुण विवेचनाधिकरण है, इसमें दो अध्यायों में कवि ने काव्य के गुणों का विवेचन किया है, साथ ही साथ ग्रन्थकार ने अलङ्कार तथा गुण के बीच भेद भी प्रदर्शित किया है। चतुर्थ अधिकरण का नाम आलङ्कारिक अधिकरण है, इसमें तीन अध्याय हैं। पाँचवें अधिकरण का नाम प्रायोगिकाधिकरण है। इसमें दो अध्याय हैं और शब्द प्रयोग के विषय में विवेचन है।

काव्यालङ्कार सूत्र वामन की एक अद्वितीय कृति है जिसका साहित्य शास्त्र के क्षेत्र में अपना एक अमूल्य योगदान है।

रूद्रट :

साहित्यशास्त्र के इतिहास में एक अत्यन्त प्रसिद्ध आचार्य के रूप में आचार्य वामन के अनन्तर रूद्रट का प्रमुख स्थान है। राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में 'काकुबक्रोक्तिर्नामशब्दालङ्कारोऽयमिति रूद्रट:' कहकर रुद्रट को स्मरण किया है।

कश्मीर देशीय रूद्रट के ग्रन्थ का नाम काव्यालङ्कार है जो आर्या छन्द है इसमें ७१४ आर्यायें हैं। १६ अध्यायों में विभक्त ११ अध्यायों में अलङ्कारों का ही मात्र विवेचन है। अन्तिम अध्यायों में रस की मीमांसा की गयी है। इससे प्रेय नामक रस का विवेचन करके रसों की संख्या १० बतायी गयी है। वैज्ञानिक आधार पर अलङ्कारों का विभाजन करके इन्होंने एक नया दृष्टिकोण प्रदान किया है। कुछ प्राचीन अलङ्कारों का इन्होंने नया नामकरण किया है। जैसे ब्याजस्तुति के लिये ब्याजश्लेष शब्द का प्रयोग किया है, स्वभावोक्ति के लिये जाति तथा उदात्त के लिये अवसर आदि नामों का प्रयोग किया है।

भेदवादियों की दृष्टि से रूद्रट और रूद्रभट्ट दो अलग-अलग व्यक्तियों के नाम बताये गये हैं किन्तु अधिकांशत: साहित्यिक दोनों को एक ही व्यक्ति मानते हैं।

भट्टनायक :

कश्मीर देशीय भट्टनायक वर्धन के समकालीन थे। दशम् शताब्दी के प्रसिद्ध साहित्यकार श्री भट्टनायक ध्वनि विरोधी आचार्य हैं। इनका एक ग्रन्थ 'हृदय दर्पण' है जो कि उपलब्ध नहीं है। इन्होंने रस के विषय में सांख्यदर्शन के आधार को ग्रहण करके मुक्तिवाद सिद्धान्त का अन्वेषण किया है।

इन्होंने शब्द में अभिधा व्यापार, भावकत्व और भोजकत्व तीन प्रकार के व्यापार माने हैं। अभिधा व्यापार से सामान्य अर्थ की उपस्थिति, भावकत्व से साधारणीकरण और भोजकत्व से सामाजिक को रस की अनुभूति होती है। इसी बात को हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन विवेक में पृष्ठ ६१ पर इनके मत को श्लोक रूप में प्रकट किया है।

अभिधाभावना चान्या तद्भोगी कृतिरेव च।
अभिधायामतां याते शब्दार्थालङ्कृती ततः।।
भावनाभाव्य एषोऽपि शृङ्गारादिगणो मतः।
तद्भोगी कृति रूपेण व्याप्यते सिद्धिमान्नरः।।

मुकुलभट्ट :

अभिधावृत्तिमात्रिका इनका ग्रन्थ है ये कश्मीर के रहने वाले हैं और कल्लट के पुत्र हैं। इन्होंने ग्रन्थ के अन्त में अपना परिचय इस प्रकार दिया है-

भट्टकल्लटपुत्रेण मुकुलेन निरूपिता,
सूरि प्रबोधनामेयमभिधावृत्तिमातृका। (अभि० ग्रन्थतः)

'अभिधावृत्तिमातृका' ग्रन्थ में अभिधा और लक्षणा का सविस्तार विवेचन प्रस्तुत है। काव्य प्रकाशकार ने इसका खण्डन भी प्रबल तर्कणा से किया है।

प्रतीहारेन्दुराज :

ये कश्मीर देशीय हैं और मुकुलभट्ट के शिष्य हैं। इनका भी समय आनन्दवर्धनाचार्य से पूर्व का है। इन्होंने अपना परिचय इस प्रकार दिया है।

''महाश्रीप्रतिहारेन्दुराजविरचितामाममुद्भटालङ्कार लघुवृत्तौ षष्ठोऽध्यायः (उद्भटालङ्कार, षष्ठाध्यायान्ते)

आनन्दवर्धन :

साहित्यशास्त्र के प्रमुख ध्वनि सम्प्रदाय के संस्थापक के रूप में आनन्दवर्धनाचार्य का नाम प्रमुख है। राजतरंगिणीकार ने इन्हें कश्मीर नरेश अवन्तिवर्मा का समकालीन बताया है।

'मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽन्तिवर्मणः।।

इससे इनका समय नवम् शताब्दी ठहरता है। इन्होंने विषमवाण लीला, अर्जुन चरित्र, देवी शतक, तत्वालोक तथा ध्वन्यालोक इन पाँच

ग्रन्थों की रचना की थी। इनमें सबसे प्रमुख ग्रन्थ ध्वन्यालोक है। इसमें काव्य के आत्मभूत ध्वनि तत्व का प्रतिपादन किया गया है। ग्रन्थ में ४ उद्योत हैं। प्रथम उद्योत में-

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नात् पूर्व-
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्त माहुस्तमन्ये'।।
केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्वमूचुस्तदीयं।
तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम्।।

इस प्रकार तीन विरोधी ध्वनि सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है।

द्वितीय उद्योत में अविवक्षित वाच्य और विवक्षित वाच्य के भेदोपभेदों का सविस्तार विवेचन है। तृतीय उद्योत में पदों, वाक्यों, पद्यांश और रचना आदि के द्वारा ध्वनि की प्रकाश्यता का प्रतिपादन और रसों के विरोध तथा अविरोधापादन के सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है। चतुर्थ उद्योत में ध्वनि तथा गुणीभूति व्यङ्ग्य के प्रयोग के प्रभाव से कवि के काव्य में अनन्त चमत्कार उत्पन्न हो जाता है इसे ही ध्वनिवादी आचार्य ने पुष्ट करने की चेष्टा की है।

ध्वन्यालोक में तीन भाग है। एक मूलकारिका भाग, दूसरी उनकी वृत्ति भाग और तीसरा भाग उदाहरण रूप है। स्वयं आनन्दवर्धनाचार्य ने- इतिकाव्यार्थविवेको योऽयं चेतश्चमत्कृति विधायी सूरिभिरनुसृतसारैरस्मदुपज्ञो न विस्मार्यः। कहकर ध्वनि को अस्मदुपज्ञ कहा है। इस प्रकार आनन्दवर्धनाचार्य को ही कारिका भाग तथा वृत्तिभाग दोनों का निर्माता मानना उचित है। ध्वन्यालोक पर अभिनव गुप्त की टीका लोचन सुप्रसिद्ध है। लोचनकार ने लिखा है-

किं लोचनं विनालोको भाति चन्द्रिकयापि हि,
अतोऽभिनवगुप्तोऽत्र लोचनोन्मीलनं व्यधात्।

अभिनवगुप्त :

अभिनवगुप्तपादाचार्य भी कश्मीर देश के निवासी हैं। इन्होंने ध्वन्यालोक पर लोचन नाम की टीका लिखी है। 'अत्रिगुप्त' नामक विद्वान वंश में

लगभग २०० वर्ष बाद अभिनगुप्त पैदा हुए। इसी वंश के वराह गुप्त ने (जो कि अभिनव गुप्त के बाबा थे) पिता चुलुखक तथा अपनी उत्पत्ति का वर्णन अभिनगुप्त ने तन्त्रालोक में किया है-

तस्यान्वये महति कोऽपि वराह गुप्तनामा वभूव भगवान् स्वयमन्तकाले।
गीर्वाणसिन्धुलहरीकलिताग्रमूर्धा यस्याकरोत् परमनुग्रहमाग्रहेण।।
तस्यात्मजः चुलुखकेति जनो प्रसिद्धश्चन्द्रावदातधिषणो नरसिंहगुप्तः।
यं सर्वशास्त्ररसमज्जनशुभ्रचित्तं माहेश्वरी परमलङ्कुरुते स्म भक्तिः।।

अभिनवगुप्त के तीन ग्रन्थ हैं– (१) विवृतविमर्शिनी (२) क्रमस्तोत्र (३) भैरवस्तोत्र।

अभिनवगुप्त का काल दशम् शताब्दी का अन्तिम भाग तथा ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में था। इनके लगभग ४१ ग्रन्थ हैं। साहित्यशास्त्र से सम्बन्ध रखने वाले ३ ग्रन्थ ये हैं- ध्वन्यालोक लोचन जो कि ध्वन्यालोक की टीका है और दूसरा 'अभिनव भारती' जो कि नाट्यशास्त्र पर टीका रूप में है और तीसरा घटकर्परविवरण जो मेघदूत की टीका है। शेष अन्य ग्रन्थ शैवदर्शन या स्तोत्रपरक हैं।

राजशेखर :

प्रसिद्ध नाटककार तथा सूक्ष्म विवेचक इस साहित्यकार का जन्मस्थल कश्मीर न होकर बाहर रहा। महाराष्ट्र के प्रसिद्ध कवि अकाल जलद के पौत्र और दुर्दक तथा शीलवती के पुत्र थे। इनकी पत्नी का नाम अवन्ति सुन्दरी था। जो निसर्गतः विदुषी और कवित्व प्रतिभाशालिनी प्राप्त हुयी थी।

मुख्य रूप से कवि और नाटककार राजशेखर की चार कृतियाँ हैं- बाल रामायण, बाल भारत, विद्धशालभंजिका, कर्पूर मंजरी इत्यादि।

साहित्य समीक्षा से सम्बन्धित प्रसिद्ध ग्रन्थ काव्यमीमांसा है। इसमें कुल १८ अध्याय हैं। यह एक विलक्षण ग्रन्थ है।

इस तरह से इन्हें कविशिक्षा सम्प्रदाय का प्रवर्तक भी माना जा सकता है।

धनंजय :

ये दशम शताब्दी के एक प्रमुख नाट्यशास्त्री हैं। भरत के नाट्यशास्त्र के अनन्तर इनका दशरूपक ग्रन्थ विद्वत् समाज में सर्वाधिक समादृत रहा।

यह ग्रन्थ कारिका रूप में लिखा गया है। चार प्रकाशों में विभक्त इस ग्रन्थ में धनंजय ने नाटक के भेदोपभेद सहित रूपकों से सम्बन्ध रखने वाली सारी बातों का संकलन किया है। इनके दशरूपक ग्रन्थ पर इनके भाई धनिक ने अवलोकत्रयक टीका लिखी है।

कुन्तक :

वक्रोक्ति सम्प्रदाय के संस्थापक के रूप में इनका नाम समादर से लिया जाता है। ये निश्चित रूप से महिमभट्ट के पूर्ववर्ती हैं। इनका समय दशम शताब्दी के पहिले मानना पड़ेगा क्योंकि ये महिमभट्ट के पूर्ववती हैं।

'वक्रोक्तिजीवित' नामक ग्रन्थ के प्रभाव से ही ये सभी के बीच आज भी समादृत हैं। कारिका, वृत्ति और उदाहरण तीन भाग हैं। कारिका और वृत्ति दोनों कुन्तक द्वारा स्वरचित है। ग्रन्थ चार उन्मेषों में विभक्त है। ये अभिधावादी आचार्य हैं। ये लक्ष्य, व्यंग्य अर्थ को मानते तो हैं किन्तु इनका अन्तर्भाव वाच्य में ही कर लेते हैं।

महिमभट्ट :

ये ध्वनि विरोधी आचार्य हैं, इनका समय दशम् शताब्दी का अन्तिम भाग पड़ता है। ये नैयायिक हैं अत: इन्होंने ध्वनि को सामान्य रूप से और उसके उदाहरणों को विशेष रूप से अनुमान के अन्तर्गत रखा है। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु ही इन्होंने व्यक्ति विवेक ग्रन्थ लिखा है। इसी के रूप में ये ज्यादा जाने जाते हैं अपने मूल रूप से कम।

व्यक्ति विवेक में तीन विमर्श हैं। प्रथम विमर्श में ध्वनि का अपनी तर्कणा से खण्डन और समस्त ध्वनिपरक उदाहरणों का अनुमान के अन्तर्गत अन्तर्भाव दिखाया है। द्वितीय विमर्श में काव्य के दोष निरूपित हैं। इसमें अनौचित्य काव्य का मुख्य दोष है। तृतीय विमर्श में ध्वनि के समस्त ४० उदाहरणों को अनुमान के अन्तर्गत अन्तर्भाव दिखलाया है।

क्षेमेन्द्र :

औचित्य सम्प्रदाय के प्रबल समर्थक एवं प्रतिपादक क्षेमेन्द्र ने कविकण्ठाभरण ग्रन्थ में अपना परिचय दिया है। इनके पिता का नाम प्रकाशेन्द्र तथा बाबा का नाम सिन्धु था। इनके ग्रन्थों की संख्या विस्तृत है। लगभग ४० ग्रन्थों की रचना इन्होंने की है। किन्तु वे सब उपलब्ध नहीं हैं।

औचित्य विचार चर्चा मुख्यतया अलङ्कारशास्त्रीय ग्रन्थ हैं। इन्होंने औचित्य को रस का प्राणभूत तत्व कहा है।

औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुर्वणेः रस जीवित भूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना।। इन्होंने इसी क्रम में अनौचित्य को रसभङ्ग का कारण और औचित्य को अत्यधिक महत्व दिया।

अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्।

प्रसिद्धौ चित्यकन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा।।

'सुवृत्ततिलक:' छन्दशास्त्रीय ग्रन्थ है। दशावतारचरित भी इन्हीं का एक ग्रन्थ है।

भोजराज :

राजा भोज इतिहास में विद्वानों के आश्रयदाता एवं उदार दानशील नृपति के साथ-साथ एक प्रसिद्ध अलङ्कारशास्त्री भी थे। ये कश्मीर नरेश अनन्त वर्मा के समकालीन थे, अत: इनका शासनकाल ग्यारहवीं शताब्दी में माना जाता है। कल्हण ने अपनी राजतरङ्गिणी में इसका उल्लेख किया है जो कि निम्नवत् है।

''स च भोजनरेन्द्रश्च दानोत्कर्षेण विश्रुतौ।

सूरी तस्मिन् क्षणे तुल्यं द्वावास्तां कविवान्धवौ।।''

अलङ्कारशास्त्र के विषय में इनके दो ग्रन्थ हैं- (१) सरस्वती कण्ठाभरण और (२) शृङ्गार प्रकाश।

सरस्वती कण्ठाभरण :

इसमें ५ परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में दोष और गुण का विवेचन है,

द्वितीय परिच्छेद और तीसरे में २४ शब्दालङ्कारों का तथा चतुर्थ परिच्छेद में २४ उभयालङ्कारों का वर्णन है। पञ्चम् परिच्छेद में रस, भाव, पंचसन्धि तथा चारों वृत्तियों का वर्णन किया गया है।

इनका दूसरा महत्वपूर्ण ग्रन्थ शृङ्गार प्रकाश है। इस विशालकाय ग्रन्थ में ३६ प्रकाश हैं। इसमें ग्रन्थकार ने शृङ्गार रस को ही प्रधान रस कहा है-

शृङ्गारवीरकरुणाद्भुतरौद्रहास्य-
वीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्नः।
आम्नासिषुर्दशरसान् सुधियो वयं तु
शृङ्गारमेवरसनाद्रसमामनामः।।

प्रथम आठ प्रकाशों में शब्द एवं अर्थ विषयक विविध वैयाकरणों के मत हैं। नवम् तथा दशम् प्रकाशों में गुण तथा दोषों का विवेचन है। ग्यारहवें से लेकर बारहवें प्रकाशों में महाकाव्य तथा नाटक का वर्णन है। शेष प्रकाशों में ग्रन्थकार ने विविध उदाहरणों के माध्यम से रसों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। यह ग्रन्थ अलङ्कारशास्त्रीय ग्रन्थों में सर्वाधिक विशालकाय ग्रन्थ है। इस रचना ने भोजराज को साहित्य शास्त्र के आकाश में एक उज्ज्वल नक्षत्र के रूप में सदा-सदा के लिए चिर प्रतिष्ठित कर दिया है। भोजराज का शृंगार रस कोई सामान्य शृंगार नहीं है। अपितु इसमें जीवन के चतुर्विध पुरुषार्थ समाहित हो जाते हैं।

वाग्देवतावतार मम्मट :

आचार्य मम्मट का नाम साहित्यशास्त्र के आकाश में उज्ज्वलतम नक्षत्र के रूप में लिया जाता है। ये भी कश्मीर के निवासी थे। काव्य प्रकाश की 'सुधासागर' टीका के निर्माता भीमसेन के अनुसार ये कश्मीर देशीय जैय्यट के पुत्र थे। कैय्यट तथा उव्वट दोनों ही इनके छोटे भाई थे। किन्तु यह मत ठीक नहीं है क्योंकि उव्वट कृत वाजसनेय संहिता भाष्य में उनका परिचय इस प्रकार है-

आनन्दपुर वास्तव्य वज्रटाख्यस्य सूनुना।
मन्त्रभाष्यमिदं क्लृप्तं भोजे पृथ्वीं प्रशासति।।

कैय्यट को जैय्यट का आत्मज कहा है किन्तु उव्वट तो वज्रट के पुत्र हैं। अतः 'कैय्यटो जैय्यटात्मजः' के अनुसार कैय्यट जैय्यट के पुत्र होने के कारण मम्मट के भाई जान पड़ते हैं।

'शिवपुरीं गत्वा प्रपठ्यादरात्- की जो बात कही है वह भी तर्कसंगत नहीं है। क्योंकि कश्मीर भले ही विद्या का केन्द्र रहा किन्तु उस समय वाराणसी विद्या का केन्द्र नहीं था, अतः कश्मीर देशीय मम्मट का कश्मीर छोड़कर विद्याध्ययनार्थ वाराणसी आना तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता है।

'काव्य प्रकाश' के निर्माता के रूप में वागदेवतावतार आचार्य मम्मट का नाम साहित्यशास्त्र में बहुत ही आदर से लिया जाता है। इसमें अल्लट का भी सहयोग रहा है। इसी बात को काव्य प्रकाश के अन्त में इस प्रकार कहा गया है-

इत्येष मार्गो विदुषां विभिन्नोऽप्यभिन्नरूपः प्रतिभासते यत्
न तद्विचित्रं यदमुत्र सम्यग् विनिर्मिता सङ्घटनैव हेतुः।।

सूत्रात्मक शैली में लिखा गया है यह ग्रन्थ अलङ्कार शास्त्र का नवनीत है यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी। कारिका, वृत्ति एवं उदाहरण इसके तीन भाग हैं। कतिपय विद्वान् कारिका और वृत्ति दोनों का कर्त्ता आचार्य मम्मट को मानते हैं। इन्होंने उदाहरण जो भी दिये हैं वे दूसरों द्वारा रचित हैं। 'काव्य प्रकाश निदर्शना नामक टीका के निर्माता राजानक आनन्द ने इस बात को साररूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया है-

कृतः श्रीमम्मटाचार्यवर्यैः परिकरावधिः।
ग्रन्थः सम्पूरितः शेषं विधायाल्लट सूरिणा।।

आचार्य मम्मट ने परिकर अलङ्कार पर्यन्त 'काव्य प्रकाश' जेसे जिस ग्रन्थ की रचना की उसी को अल्लट नामक विद्वान ने पूर्ण किया।

इस ग्रन्थ में १० उल्लास हैं। इसमें 'तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि' इस लक्षण के अनुसार क्रमशः एक-एक का वर्णन समीक्षात्मक रूप से किया है। जैसा सूक्ष्मातिसूक्ष्म वर्णन इस ग्रन्थ में मिलता है, वैसा

अन्यत्र नहीं मिलता है।

सूत्र शैली और विषय बाहुल्य के कारण काव्य प्रकाश एक अद्वितीय ग्रन्थ है। आचार्य मम्मट की प्रतिभा एवं विलक्षण वैदुष्य तथा साहित्यशास्त्र के प्रति की गयी उनकी सेवा अविस्मरणीय है। प्रथम काव्य का लक्षण और उसके भेद-प्रभेद का वर्णन और द्वितीय उल्लास में अभिधा और लक्षणा के अतिरिक्त व्यंजना के भेद शाब्दी व्यंजना का निरूपण किया गया है। तृतीय उल्लास में आर्थी व्यंजना का निरूपण है। चतुर्थ उल्लास में ध्वनि प्रस्थापन परमाचार्य मम्मट ने ध्वनिकाव्य का, पंचम उल्लास में गुणीभूत व्यंग्य काव्य का और षष्ठ उल्लास में चित्र काव्य का वर्णन किया है। सप्तम उल्लास में दोषों का और अष्टम गुण, रीति तथा वृत्तियों का और नवम् तथा दशम् उल्लास में शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कारों का भेद-प्रभेद सहित निरूपण है।

मधुमक्षिकावत् विशाल साहित्य के अक्षय भण्डार को गागर में सागर की तरह समाहित करने वाले आचार्य मम्मट के काव्यप्रकाश का अध्ययन किये बिना साहित्य शास्त्र का मूल मन्तव्य समझ पाना कठिन है। इस हेतु किया गया आचार्य मम्मट का प्रयास स्तुत्य है।

सागरनन्दी :

दशरूपककार धनंजय के लगभग १०० वर्ष बाद सागर नन्दी ने ''नाटकलक्षणरत्न कोष'' नामक ग्रन्थ की रचना की। ये वस्तुत: काव्य शास्त्र के नहीं अपितु नाट्य शास्त्र के आचार्य हैं। यह ग्रन्थ भरत के नाट्य शास्त्र पर आधारित है तथा कारिका रूप में लिखा गया है।

राजानक रूय्यक :

'काव्यप्रकाश संकेत' टीका के रचयिता के रूप में आचार्य रूय्यक का नाम मम्मटाचार्य के उत्तरवर्ती साहित्यकारों में लिया जाता है। राजानक शब्द का प्रयोग इन्हें कश्मीरी सिद्ध करता है। ये मंखक कवि के शिष्य थे। अत: इनका काल ११वीं शताब्दी का मध्य भाग मानना उचित है।

सहृदयलीला, व्यक्ति विवेक की टीका तथा अलंकार सर्वस्व ये तीन पुस्तकें इस समय उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त काव्य प्रकाश संकेत, अलंकार

मंजरी, अलंकारानुसारिणी, नाटक मीमांसा इत्यादि ग्रन्थों के नाम भी मिलते हैं।

हेमचन्द्र :

यह सुप्रसिद्ध जैन आचार्य हैं। साहित्यशास्त्र पर इन्होंने काव्यानुशासन नामक ग्रन्थ की रचना की। यह संग्रह ग्रन्थ सा है जिसमें काव्य मीमांसा, काव्यप्रकाश, ध्वन्यालोक के विस्तृत उद्धरण दिये गये हैं।

रामचन्द्र गुणचन्द्र :

यह हेमचन्द्र जैसे प्रसिद्ध जैन आचार्य के शिष्य हैं। ये दोनों एक व्यक्ति न होकर अलग-अलग नाम हैं। इन्होंने नाट्य दर्पण नामक ग्रन्थ की रचना की है। जो कि कारिकारूप में है। इनका समय बारहवीं शताब्दी में निश्चित होता है। ग्रन्थ में चार विवेक हैं। इन्होंने रस को सुखात्मक के साथ-साथ दुखात्मक भी माना है।

वाग्भट् :

यह भी एक सुप्रसिद्ध जैन आचार्य हैं। इन्होंने साहित्य के अलावा आयुर्वेद के क्षेत्र में भी ख्याति अर्जित किया। इनकी प्रसिद्ध कृतियाँ निम्नवत् हैं-

१. वाग्भटालङ्कार

२. काव्यानुशासन

३. छन्दोनुशासन

४. अष्टांग हृदय

अरि सिंह और अमरचन्द्र :

इन दोनों जैनाचार्यों ने भी मिलक नाट्यदर्पणकार की तरह काव्यकल्प लता वृत्ति नामक ग्रन्थ की रचना की।

देवेश्वर :

जैन विद्वानों की परम्परा में इस विद्वान ने भी कवि कल्पलता नामक ग्रन्थ की रचना की किन्तु यह पूर्व ग्रन्थ काव्य कल्प लता वृत्ति का ही एक अनुकरण मात्र है।

जयदेव :

गीतगोविन्दकार जयदेव का नाम संस्कृत साहित्य के रसिक के लिये अपरिचित नहीं है। इनके ग्रन्थों में चन्द्रालोक, प्रसन्न राघव, गीत गोविन्द तीन अति प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। चन्द्रालोक में दस मयूख हैं। बहुत ही सरल और सुन्दर शैली में लिखे गये इस ग्रन्थ में कवि ने अपने वैदुष्य का कुशल परिचय दिया है। प्रसन्न राघव नाटक का प्रभाव उत्तरवर्ती साहित्यकारों पर इतना पड़ा कि गोस्वामी जी ने इनकी पंक्तियों का कहीं-कहीं अक्षरश: अनुवाद कर दिया है जो कि बहुत ही अच्छा बन पड़ा है।

विद्याधर :

एकावलीकार विद्याधर दक्षिण भारत की विभूतियों में से हैं। इन्होंने साहित्य शास्त्र में अप्रतिम योगदान किया है। इनका एकमात्र ग्रन्थ एकावली है, इसमें आठ उन्मेष या अध्याय हैं। इनमें क्रमश: काव्यस्वरूप, वृत्ति विचार, ध्वनि भेद, गुणी भूत व्यङ्ग्य, गुण और रीति, दोष, शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कारों का विवेचन किया गया है। इनका समय उड़ीसा के राजा नरसिंह द्वितीय के शासनकाल में होने के कारण बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी के बीच का माना जा सकता है।

विद्यानाथ :

'प्रतापरूद्रयशोभूषण' इनका काव्यशास्त्र पर लिखा गया अप्रतिम ग्रन्थ है। इसमें भी कारिका, वृत्ति तथा उदाहरण तीन भाग हैं काकतीयवंशीय राजा प्रताप रूद्र की स्तुति प्रशंसा परक चाटु श्लोकों के माध्यम से स्वयं निर्मित उदाहरणों द्वारा किया गया है। प्रताप रूद्र राजा का समय चूंकि चौदहवीं शताब्दी का आरम्भिक भाग है। अत: विद्याधर का भी यही समय माना जा सकता है। इसी के आधार पर हिन्दी के प्रसिद्ध कवि 'भूषण' ने ''शिवराज भूषण'' नामक अलंकार प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा है।

विश्वनाथ कविराज :

संस्कृत साहित्य के इतिहास में कविराज विश्वनाथ का स्थान अप्रतिम है। इनका साहित्य दर्पण ग्रन्थ साहित्य के विद्यार्थियों के लिये अपरिचित प्राय नहीं है। इन्होंने 'श्री चन्द्रशेखरमहाकविचन्द्रसूनु:' कहकर अपने को

चन्द्रशेखर का पुत्र अभिव्यक्त किया है। साहित्य दर्पण के प्रथम परिच्छेद से पता चलता है कि ये किसी राज्य के सन्धिविग्रहिक अर्थात् मन्त्री थे। इन्होंने 'अष्टादशभाषावारविलासिनीभुजङ्ग' कहकर अपने को १८ भाषाओं का ज्ञाता सिद्ध किया है। अद्यतन प्राप्त साहित्य दर्पण की हस्तलिखित प्रतिलिपि से यह ज्ञात होता है कि यह चौदहवीं शताब्दी के थे।

सुप्रसिद्ध ग्रन्थ साहित्य दर्पण में कुल दस परिच्छेद हैं। इसकी एक विशेषता यह है कि इसके छठें परिच्छेद में नाट्यशास्त्र सम्बन्धी सम्पूर्ण विषयों का समावेश है। काव्य प्रकाश की जटिलता न होकर ग्रन्थ के सरल और सुबोध शैली में लिखे जाने के कारण ग्रन्थ बड़ा ही लोकप्रिय बन गया है।

इनकी अन्य रचनाओं में काव्यप्रकाश दर्पण, राघव विलास, कुवलयाश्चरित, प्रभावती परिणय, चन्द्रकला नाटिका, नरसिंह विजय तथा प्रशस्ति रत्नावली आदि हैं।

शारदा तनय :

'भाव प्रकाशन' ग्रन्थ के रचयिता आचार्य शारदा तनय अलंकारशास्त्री न होकर नाट्य शास्त्र के आचार्यों में से हैं। भाव प्रकाशन ग्रन्थ में भाव, रसस्वरूप, रसभेद, नायक-नायिका, नायिकाभेद, शब्दार्थ सम्बन्ध, नाट्येतिहास, दश रूपक, नृत्य भेद तथा नाट्य प्रयोग का वर्णन है। इनका समय तेरहवीं शताब्दी माना जाता है।

शिङ्गभूपाल :

यह भी नाट्यशास्त्री हैं। इनके ग्रन्थ का नाम रसार्णव सुधाकर हैं। इसमें रञ्जकोल्लास, रसिकोल्लास तथा भावोल्लास नामक तीन उल्लास हैं। इनकी शैली सरल और सुबोध हैं। इनका समय चौदहवीं शताब्दी माना जाता है।

भानुदत्त :

यह मध्य भारत से सम्बन्ध रखते हें, इनके दो ग्रन्थ हैं। पहला रसमंजरी, दूसरा रसतरंगिणी इसके अलावा इनका एक गीति काव्य भी है। जो 'गीतगौरीपति' है।

रूपगोस्वामी :

वृन्दावन की विभूति रूप गोस्वामी की सत्रह कृतियाँ हैं। इनमें हंसदूत, उद्धवसंदेश, विदग्धमाधव, ललित माधव और दानकेलिकौमुदी, भक्तिरसामृतसिन्धु, उज्ज्वल नीलमणि तथा नाटक चन्द्रिका यह आठ ग्रन्थ हैं। भक्तिरसामृतसिन्धु तथा उज्ज्वल नीलमणि यह दो ग्रन्थ रस विषय से सम्बन्धित हैं।

केशवमिश्र :

केशव मिश्र ने अलङ्कारशेखर नामक ग्रन्थ की रचना की। इसमें आठ अध्याय या आठ रत्न हैं।

कवि कर्णपूर :

अलंकार कौस्तुभ तथा चैतन्य चन्द्रोदय नामक इनके दो ग्रन्थ हैं।

कवि चन्द्र :

यह कवि कर्णपूर के पुत्र थे। इनके सारलहरी तथा धातु चन्द्रिका नामक दो ग्रन्थ हैं। इनका समय सत्रहवीं शताब्दी है।

अप्पय दीक्षित एवं पण्डितराजजगन्नाथ का वर्णन इसके पहले किया जा चुका है। अत: पिष्ट-पेषण उचित नहीं प्रतीत होता है।

आशाधर भट्ट :

इनके पिता का नाम राम जी तथा गुरु जी का नाम धरणीधर सूचित किया है। इनके अलङ्कार शास्त्र विषयक तीन ग्रन्थ हैं– कोविदानन्द, त्रिवेणिका, अलङ्कार दीपिका। इनका समय अट्ठारहवीं शताब्दी है।

नरसिंह कवि :

इनके अलङ्कारशास्त्र विषयक ग्रन्थ का नाम नंजराजयशोभूषण है। इसमें सात विलास या अध्याय हैं- नायक, काव्य, ध्वनि, रस, दोष, नाटक तथा अलङ्कार हैं। यह भी अट्ठारहवीं शताब्दी के अलङ्कार शास्त्री हैं।

विश्वेश्वर पण्डित :

ये संस्कृत अलङ्कार शास्त्र के उज्ज्वल अन्तिम नक्षत्र हैं। इनके पिता

का नाम लक्ष्मीधर था। विश्वेश्वर पण्डित ने व्याकरण, न्याय और साहित्य शास्त्र पर उत्कृष्ट ग्रन्थ लिखे हैं। साहित्य शास्त्र पर इनका उत्कृष्ट ग्रन्थ अलङ्कार कौस्तुभ है। इसमें अप्पय दीक्षित एवं पण्डितराजजगन्नाथ के मतों का अनेक स्थलों पर बड़ी प्रौढ़ता के साथ खण्डन किया गया है। इनके अलङ्कार मुक्तावली, अलङ्कार प्रदीप, रसचन्द्रिका, कवीन्द्र कण्ठाभरण ये अन्य ग्रन्थ हैं।

❖

तृतीय अध्याय

चित्रमीमांसा का महत्त्व एवं उसका मूल प्रतिपाद्य

वैदिक साहित्य में चित्र शब्द का प्रयोग अनेकशः हुआ है, जहाँ इसका प्रसंगानुसार विविध अर्थ भी है। ऋग्वेद के अनुसार नानावर्ण युक्त, दर्शनीय एवं आलेख्य परक, अद्‌भुत, आश्चर्य विचित्र इत्यादि इसके अर्थ हैं। इसी प्रकार लौकिक साहित्य में मधुर, उद्वेगपरक एवं आश्चर्य, अद्‌भुत इत्यादि अर्थ मिलता है। कोषगत अर्थ में चित्र शब्द प्रतिमूर्ति, आलेख्य, तिलक, चित्रक एवं चित्र गुप्त इत्यादि मिलता है।

काव्य शास्त्र में सर्वप्रथम आनन्दवर्धनाचार्य ने इसके विषय में लिखा है-

प्रधानगुणभावाम्यां व्यङ्ग्यस्यैवं व्यवस्थिते
काव्यं उभे ततोऽन्यद् यत्तच्चित्रमभिधीयते।
चित्रं शब्दार्थभेदेन द्विविधं च व्यवस्थितम्।
तत्र किञ्चित शब्दचित्रं वाच्यचित्रमतः परम्।।
- ध्वन्यालोक ३-४२, ४३

अर्थात् काव्य के दो भेद- ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य इन दोनों से भिन्न जो काव्य व्यंग्यार्थ की विवक्षा से सर्वथा शून्य हो उसे चित्र काव्य कहते हैं। इस प्रकार के काव्य में अन्तस्तत्व का अभाव रहता है। इसे शब्द चित्र काव्य और अर्थ चित्र काव्य दो रूपों में समझा जा सकता है।

आचार्य आनन्दवर्धन ने चित्र काव्य का स्वरूप निम्न प्रकार से व्यक्त किया है-

रसभावादिविषयविवक्षा विरहे सति।
अलङ्कार निबन्धो यः सचित्रं विषयो मतः।।
रसादिषु विवक्षा तु स्यात्तात्पर्यवती यदा।
तदा नास्त्येव तत्काव्यं ध्वनेर्यत्तु न गोचरः।।

१. ध्वन्यालोक, ३-४२, ४३

चित्र काव्य का विषय वह अलङ्कार निबन्ध है। जिसकी विश्रान्ति किसी भी प्रकार से रसभाव में नहीं होती है।

आचार्य दीक्षित जी ने चित्र शब्द को उसके अर्थ गौरव की दृष्टि से ही ग्रहण किया है- चित्र काव्य के पाँच मूल तत्व हैं जिन पर विचार किया जाना अति आवश्यक है-

१. कल्पना
२. विचार
३. भावना
४. शैली या अलङ्कार
५. तोष

१. कल्पना तत्व :

कल्पना ही कवि की अमोघ शक्ति है और किसी भी कवि कर्म में इसकी चरम सार्थकता है। इसी के आधार पर ही कवि अमूर्त को मूर्त रूप में और नीरस को सरस वातावरण प्रदान करने में सफल होता है। कल्पना तत्व के सहारे ही कवि भूत अथवा भविष्य की घटनाओं को वर्तमान घटना की तरह चित्र रूप में उपस्थित कर देता है। प्रस्तुत के लिये अप्रस्तुत की आवश्यकता चित्र काव्य में पड़ती है। वस्तुतः चतुर्दिक व्याप्त यथार्थ के बीच छिपी हुई निरन्तर कल्पना है, जहाँ मानव हृदय की उन्मुक्त अन्तरनुभूतियों का निवास है। वही कवि सफल होता है, जो अपनी कृतियों में इन्हीं सामान्य, सार्वकालिक, सार्वभौमिक, मानवता की भावभूमि का सृजन करता है, जो अपनी कल्पना तरंग को इतना ऊँचा उठा देता है कि सर्वसामान्य उसकी संवेदना, उसकी अनुभूति या मनोभावों को अपना मान लेता है। वही वस्तुतः सफलतम कवि, कथाकार या कथाशिल्पी और उपन्यासकार होता है। मुंशी प्रेमचन्द गोस्वामी तुलसीदास, कविकालिदास इत्यादि इसी परम्परा के संवाहक रहे हैं। उनकी कल्पना शक्ति इतनी उर्वर रही है कि वे उसी के बल पर आज भी अमर हैं।

चित्र सृजन में कल्पना तत्व का दूसरा छोर परम्परा से सम्बन्धित है, क्योंकि प्रत्येक परम्परा के पास एक सुपरीक्षित और संरक्षित तथा सुसज्जित

पद्धति होती है, किन्तु चित्र स्रष्टा के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह परम्परा से सम्बद्ध कुछ अच्छाइयों को जहाँ ग्रहण करता है वहीं उसमें आई हुई न्यूनताओं का परित्याग भी करता है। इसका मूलभूत कारण यह रहता है कि प्रत्येक परम्परा पुरातन विचारों, चिन्तन के नियमों एवं पुराने समाज के दर्पण का प्रतिबिम्ब होता है। चित्रस्रष्टा के लिये यह अपरिहार्य है कि वह नवीन विधाओं, देश, काल और वातावरण की अत्याधुनिक आवश्यकताओं तथा जनसामान्य की आम रुचियों और प्रवृत्तियों का आंकलन अपनी कल्पनाशक्ति के द्वारा अपने काव्य में करें क्योंकि इसका पुरातन में सर्वथा अभाव रहता है। चित्र सृजन का ही यह परिणाम सृष्टि है। चित्र सृजन की प्रक्रिया रूढ़िवादी, परम्परावादी और गतानुगतिकता वाली नहीं है यह उसके सृजन में सर्वथा बाधक है। चित्रसृजन की प्रक्रिया ऋणात्मक न होकर सकारात्मक है। निषेधात्मक न होकर स्वीकारात्मक है, भावात्मक तथा निर्णयात्मक है। इसी प्रकार जो भी आलोचक एकपक्षीय होकर पुरानी परम्परा का एक मात्र अनुसरण करता है, वह समाज के प्रगतिशील विचारों का पक्षधर न होकर रूढ़िवादी हो जाता है, सार्वकालिक न होकर एकदेशीय हो जाता है। इसी को दृष्टिगत रखकर ही शायद महाकवि ने ''मालविकाग्निमित्रम्'' में कहा-

पुराणमित्येव न साधु सर्वम्।
न चापि काव्यं नवमित्यविद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते।
मूढः पर प्रत्ययनेय बुद्धिः।।[१]

सही आलोचक तो पुरातन एवं नवीन दोनों का आश्रय लेकर आगे बढ़ता है। वह, सही मायने में दोनों की समीक्षा करता है। पुरातन की अच्छाइयों को ग्रहण करता है और बुराइयों का परित्याग करता है तथा नवीन देश, काल, वातावरण के क्रम में ही अपने समीक्षाओं का सृजन करता है।

अतः चित्र सृष्टि के लिए विचारतत्व के पूर्व कल्पना का आश्रयण अत्यन्त आवश्यक है।

---

१. मालविकाग्निमित्रम्

२. विचार तत्व :

विचार तत्व का चिन्तन की परम्परा में अपना अद्वितीय स्थान है। इससे तात्पर्य चित्रकार की विशिष्ट चिन्तनधारा से है। इसके अभाव में चित्रकाव्य स्थायी रह ही नहीं सकता। दर्शन इत्यादि की दुर्बोध चिन्तन धारा से परे चित्रकाव्य में दुर्बोध को भी सुबोध, नीरस को भी सरस रूप में चित्रित किया जा सकता है। जन सामान्य का सीधा सम्बन्ध इसी चिन्तन धारा से होता है। संगीतज्ञ को दिशा ज्ञान के निमित्त जो विविध वाद्य यन्त्रों में मेरीनर्स कम्पास इत्यादि का हो सकता है। वही महत्व चित्र काव्य के लिए कवि के समक्ष उपयुक्त शब्द और अर्थ के संकलन को लेकर हो सकता है। चूँकि प्रत्येक चित्र सर्जक तत्कालीन देश, काल, वातावरण के अनुकूल नवीन युग का प्रस्तोता होता है, अतः उसे तत्कालीन देश, काल, वातावरण के अनुसार ही अपने काव्य का सृजन करना पड़ता है। यदि कोई भी कवि इसकी उपेक्षा करके अपने काव्य का सृजन करता है तो इसका स्पष्ट आशय यह है कि वह अपनी कृति को अस्थायी, पंगु और पाण्डुर बनाने जा रहा है। इसीलिए ''यथादृष्टिः तथा सृष्टिः'' का सुष्ठु रूपेण परिपालन प्रत्येक चित्र स्रष्टा का मूल दायित्व है।

३. भावना तत्व :

कल्पना और विचार तत्व के अनन्तर भावनातत्व की प्रधानता सर्वविदित है। चित्र स्रष्टा की क्रान्तिकारी प्रवृत्ति यही ही परिलक्षित होती है क्योंकि चित्रकाव्य का स्रष्टा वर्तमान के साथ-साथ आगत युग का भी स्वप्नद्रष्टा होता है। वह वर्तमान युग का वैतालिक तो है परन्तु इसके साथ ही साथ वह भविष्य का हरकारा भी है। भावनाओं का जब तक आस्फालन नहीं होगा तब तक आशा का आविर्भाव नहीं होगा और जब तक आशा का आविर्भाव नहीं होगा तब तक अतीत अभिज्ञ और वर्तमान सजग चित्रद्रष्टा आगत के लिए एक आदर्श प्रस्तुत कर ही नहीं सकता है। भावनाओं का सहारा लेकर ही वह आन्तरिक हो या वाह्य तिक्त यथार्थों को कुरेदता है और संभावित सत्यादर्शों की खोज करता है, उसके सहारे ऐसी अनुभूतियों का बोध कराता है, जिसके संस्पर्श से सत्य का सम्पूर्ण सन्दर्भ ही बदल जाता है।

कभी-कभी चित्र स्रष्टा कवि यूटोपियन भी कहा जाता है। वह

प्लास्टिक 'सर्जन' की तरह जीर्ण-शीर्ण वास्तविकताओं का कायाकल्प करता है। इन्हीं भावनाओं के आधार पर वह घोर निराशा में भी आशा का मधुर संचार करता है।

इसी का सतत् विकासशील मनुष्य के लिए मधुर महत्व है। भावनाओं के आधार पर ही कवि धर्मरेखा का निबन्धन करता है जिससे अनुशासित होकर समग्र समाज की विकासमान प्रवृत्तियाँ आगे बढ़ती हैं। इसलिए कोई भी चित्र स्रष्टा वर्तमान को ही विधायक नहीं है बल्कि एक वाक वर्चस्वी नेता की तरह है जो भविष्य के लिए एक घोषणा पत्र मन्तव्य पत्र (Menifesto) भी प्रस्तुत करता है।

४. शैली :

इसका चित्र काव्य में अपना अलग वैशिष्ट्य है। चित्र में काव्यात्मक संवेग महत्वहीन तब हो जाता है जब उसकी शैली या अलङ्कार को गौण महत्व दे दिया जाय। शैली और अलङ्कार के माध्यम से चित्र काव्य में ग्रथित अन्तर्वृत्तियों और रागवृत्तियों का उच्छृंखल निदर्शन नहीं अपितु यथायोग्य नियमन हो जाता है। नैतिकता को ही काव्य का निकष मान लेने पर सही चित्रांकन का मार्ग पूर्ण रूपेण अवरुद्ध हो जाता है। इसके लिए एक छोटा सा उदाहरण द्रष्टव्य है। कोई भी नैतिक विचारक जो कि कर्ण के ऊपर लिखे गये काव्य पर विचार कर रहा है, कर्ण की कमनीयता और युद्ध छल पर ही विचार करता रह जायेगा। जब तक कि कर्ण की यह दर्पोक्ति सामने नहीं आ जाती कि-

सूतो वा सूतपुत्रो वा यो वा को वा भवाम्यहम्।
दैवायत्तं कुले जन्म मदायत्तं तु पौरुषम्।।

अतः शैली और अलङ्कार को यदि प्राण कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

५. तोष :

यह अत्यन्त ही महत्वपूर्ण तत्व है। 'स्वान्तः सुखाय' का तत्व बोध ही वक्ता एवं श्रोता को किसी कृति के अवगाहन हेतु प्रस्तुत करता है। 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' की सर्वाधिक चरितार्थता यहाँ ही दृष्टिगोचर होती है।

चित्र काव्य का मूल उद्देश्य अलङ्कारपरक होने के कारण कभी-कभी कटु हो जाता है। किन्तु उसका वाग् विधान एवं कथानक सर्वथा रोचक और आकर्षक होता है, अतः अन्ततोगत्वा सुखानुभूति ही होती है। भारतीय अध्यात्म तत्व में भी आनन्द का परम महत्व है, इसी के कारण चित्र काव्य के प्रतीक विधान, अलङ्कार योजना इत्यादि का समन्वित प्रभाव पाठकों के लिए अतिशय ग्राह्य ही होता है, व्याज्य नहीं।

उपर्युक्त संकेतित तत्वों से यह स्पष्ट है कि जिस कवि की प्रतिभा, सौन्दर्यानुभूति जितनी ही गहनतर, अतल स्पर्शिनी और सानुपातिक समवाय रूप होगी, उसकी चित्र सृष्टि उतनी ही हृदयहारिणी एवं मूल्यांकन होगी।

पाठक अथवा चित्रकार दोनों का ही चित्रकाव्य के साथ सापेक्षिक सम्बन्ध है। चित्र स्रष्टा कलाकार का जो उत्तरदायित्व चित्र सृष्टि में है वही चित्र काव्य के मूल्यांकन में मूल्यांकनकर्ता का भी है। किसी वस्तु या भाव के प्रति समग्र दृष्टि का नाम ही चित्र है।

वाग्देवतावतार आचार्य मम्मट ने कवित्व शक्ति हेतु तीन हेतुओं का वर्णन किया है-

शक्तिर्निपुणता लोक शास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे।।[१]

-काव्यप्रकाश प्रथम उल्लास का० ३

ग्रन्थकार ने (१) शक्ति (२) लोक व्यवहार, शास्त्र एवं काव्य आदि के पर्यालोचन से उत्पन्न व्युत्पत्ति तथा (३) काव्य की रचना शैली और उसके गुण-दोषों के समीक्षक विद्वज्जनों की शिक्षा के अनुसार अभ्यास इन तीनों की समष्टि को काव्य निर्माण की योग्यता को प्राप्त करने का कारण माना है। मेरे विचार से स्रष्टा के लिए ये जितना जरूरी है उतना ही मूल्यांकन कर्ता के लिए भी। अतः 'दृष्टि' ही सृष्टि है को समझने के लिए मूल्यांकन कर्ता के पास समुचित रस संवेदना का ज्ञान हो, काव्य वस्तु का अनुबन्ध सन्दर्भज्ञान अद्योपान्त होना चाहिए, अर्थ छवि को उद्घाटित करने का कौशल होना चाहिए साथ ही साथ मूल्यांकन कुशलता का भी होना आवश्यक है।

१. काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास, कारिका-२

सारांश यह कि चित्र सृष्टि के लिए जो कुशलता, कार्य क्षमता, योग्यता चित्र स्रष्टा के लिए अपेक्षित है, वही मूल्यांकनकर्ता के लिए भी अपेक्षित है। इन दोनों का तुल्य योग होना अत्यन्त आवश्यक है।

गलितार्थ यह है कि चित्र काव्य के मूल्यांकन का मानदण्ड सर्वथा कालातीत, दृष्टिकोण निरपेक्ष और स्थितिशील (Static) नहीं होता है। वे ही कृतियाँ स्थायी एवं आगत भविष्य के लिए मंगलप्रद होती है जिनमें आने वाले युगसत्यों का मानव के मूलमनोभावों के रागात्मक स्तर पर सफल अंकन रहता है। उदाहरणार्थ- वाल्मीकि और तुलसी की शिवैषणा और लोकमंगल की भावना से ओत-प्रोत अमर कृति क्रमशः रामायण और रामचरितमानस की यह गवोक्ति सम्पूज्य है और युगों-युगों तक सम्पूज्य रहेगी-

कीरति भनिति भूति भल सोई।[१]

सुरसरि सम सबकर हित होई।। - रामचरित मानस

यही नहीं मुंशी प्रेमचन्द की चाहे जो भी कथा शिल्पी हो वह आज भी अमर और स्तुत्य इसलिए है कि उसमें आगत युगसत्यों का यथार्थ चित्रण सफलतापूर्वक किया है।

चित्र काव्य सर्वथा और सर्वदा सोद्देश्य होता है यह मान्यता उचित ही प्रतीत होती है। चित्र काव्य के अवर काव्य के अतिरिक्त भी और कई आयाम हैं। इसका समबन्ध मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि का है, ऐसा आधुनिक विवेचकों का मानना है। कभी-कभी चित्रकाव्य बहिर्निष्ठ की अपेक्षा अन्तर्निष्ठ निगूढ़ता से अधिक जुड़ा रहता है। चित्र काव्य का मूल तत्व उपेक्षित तब रहता है जब आलोचक व्यावहारिक आलोचना के स्तर पर उतरते-उतरते अपने को कला पक्ष तक सीमित कर लेता है।

चित्र काव्य में वह कलाकार सफल माना जाता है जो मात्र कोमल कल्पनाओं का पोषक मात्र न होकर शिव परक भावनाओं का भी सर्जक हो।

'राजशेखर' की काव्य मीमांसा की निम्नांकित पंक्ति-

मा भैः शशाङ्कममसीधुनिनास्ति राहुः[२]

रवे रोहिणी वसति कातर किं विभेषि।

१. रामचरितमानस, २. काव्यमीमांसा - राजशेखर

प्रायो विदग्धवनिता नवसङ्मेषु

पुंसां मनः प्रचलतीति किमत्र चित्रम्।।

की उपेक्षा कालिदास की ये पंक्तियाँ-

उपाददे तस्य सहस्त्ररश्मिस्त्वष्ट्रा नवं निर्मितमातपत्रम्।

स तद्दुकूलादविदूर मौलिर्वभौपतदङ्ग दवोत्तमाङ्गे।।

अधिक सशक्त और सहृदयहारिणी है, क्योंकि इसमें शिवेतरक्षति का उदग्र उद्घोष भी है।

कुछ आलोचक पण्डितराज जगन्नाथ, आनन्दवर्धन, मम्मट एवं विश्वनाथ जैसे आचार्य चित्र काव्य का सम्बन्ध आलङ्कारिक अनुभूति से जोड़ते हैं, किन्तु वास्तव में उनका सम्बन्ध सौन्दर्यात्मक अनुभूति से रहा है। वस्तुतः चित्र सृष्टि का सम्बन्ध 'अहम्' से न होकर 'इदम्' से और 'स्वान्तः' की अपेक्षा 'परान्तः' से अधिक है।

यह सत्य है कि प्रत्येक कवि चित्र स्रष्टा नहीं होता है 'द्वित्राः कवयः' कहकर इसकी ही आनन्दवर्धनाचार्य ने पुष्टि की है - अतः चित्रोद्भावनार्थ अधिक प्रातिभ अर्हता, साधन और संश्लेषण शक्ति की आवश्यकता है। चित्र सृष्टि एक ऐसी प्रक्रिया है जिसका अर्थ विश्लेषण से और इति संश्लेषण से सम्पृक्त है।

चित्र के मंजुल संस्पर्श को ही पाकर कोई काव्य श्रेष्ठ और वरेण्य हो जाता है और चित्र सरणियों का भी महत्व अधिक है क्योंकि सत्प्रेरणाओं की निर्झरिणी से निःसृत जल कणों के ग्रहण से मनुष्य में शेष सृष्टि के साथ तादात्म्य स्थापित करने की उत्कट जीवट शक्ति जगती है। यही कारण है कि मोक्ष की अभिलाषा रखने वाले मुमुक्षु कवियों की इस लोक की वर्णना से परिप्लुत मरणकामी कविताओं की तुलना में ऋषियों की इस वाणी कि-

''कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः''

अर्थात् इस लोक में कर्म करते हुए सैकड़ों वर्ष जीवने की इच्छा करनी चाहिए, से मिलती जुलती क्रियाशील जिजीविषा अत्यधिक प्रभावोत्पादक है।

❖

चतुर्थ अध्याय

काव्यस्वरूप निरूपण एवं चित्रमीमांसा

मानव मन की रागात्मक चेतना को प्रभावित करने के कारण ही काव्य को आज से नहीं, अपितु अनादि काल से महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त रहा है। संस्कृत काव्यशास्त्र के अनुसार 'काव्य' अपने व्यापक अर्थ में सर्जनात्मक साहित्य (Creative literature) के पर्याय के रूप में व्यवहृत होता रहा है, किन्तु आज आधुनिक युग में वह अपने पथ से हट सा गया है। इस युग में छन्दबद्ध रचना को ही काव्य कहा गया है।

काव्य लक्षण से काव्यशास्त्र का प्रारम्भ होता है। यद्यपि इस विभिन्न मतावलम्बी एवं परम्पराओं वाले संसार में काव्य का लक्षण एवं महत्व विभिन्न विद्वानों द्वारा समय-समय पर प्रतिपादित किया है। अत: काव्य स्वरूप निरूपण के प्रसंग में सर्वप्रथम इस पर एक विहंगावलोकन अति आवश्यक है।

सर्वप्रथम अग्निपुराण में काव्य का लक्षण प्रस्तुत किया गया है।[१] वक्तव्य विषय का सरस रीति से प्रतिपादन करने वाला संक्षिप्त पद समूह रूप वाक्य ही काव्य है। वह पदावली गुणालङ्कारयुक्त होनी चाहिये न कि उससे रहित।[२] यद्यपि अग्निपुराण का समय सुनिश्चित नहीं है, किन्तु काव्य स्वरूप निरूपण प्रसङ्ग में यह मत दृढ़ता प्रदान करता है।[३]

संस्कृत साहित्याकाश में 'भीष्मपितामह' की संज्ञा से विभूषित 'भामह' का काव्यलक्षण अतिशय प्राचीन है। उन्होंने शब्द और अर्थ दोनों के सहभाव को काव्य माना है।[४] यह लक्षण प्राचीनतम होने के साथ-साथ संक्षिप्त भी

१. 'संक्षेपात् वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली' । - अग्निपुराण ३३७।७

२. काव्यं स्फुटदलङ्कारगुणवद्दोष वर्जितम्।
यो निर्वेदश्चं लोकस्य सिद्धमन्त्रादयोर्जितम्।। - अग्निपुराण ३३७।८

३. संस्कृत साहित्य का इतिहास, परिच्छेद पुराण प्रकरणम्, पृ० ४५-४७

४. ''शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यम् च तद् द्विधा''। - काव्यालं० १।१६ कारि०

है। वे सहभाव या 'सहितौ' का क्या अर्थ लेते हैं। यह स्पष्ट नहीं है। अपनी 'काव्य मीमांसा' में राजशेखर ने सहित शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है।[१] अर्थात् शब्द और अर्थ का युगपत् भाव ही 'काव्य' है। यथावत् से तात्पर्य है कि शब्द और अर्थ इन दोनों का समान मूल्य या समकक्षता है। कहने का आशय यह है कि शब्द को अर्थ के अनुरूप या अर्थ को शब्द के अनुरूप होना चाहिये यही 'सहितौ' पद से लक्षणकार का आशय है। साहित्य इसी अर्थ और शब्द का सहभाव है।

भामह के बाद दण्डी का स्थान आता है। इन्होंने काव्यादर्श, नामक ग्रन्थ की रचना की। दण्डी ने पूर्व के आचार्यों के मतों का उल्लेख किया है।[२] अर्थात् प्रजाजनों की व्युत्पत्ति को ध्यान में रखकर भामह आदि विद्वानों ने विचित्र मार्गों से युक्त वाचां काव्यवाणी के क्रियाविधिम् रचना के प्रकारों का वर्णन किया है, जिसमें उन्होंने काव्य के शरीर तथा उसके अलङ्कारों का वर्णन किया है। यहाँ पर 'तै शरीरं काव्यानामलङ्काराश्च दर्शिता:' से भामह की ओर ही स्पष्ट संकेत किया है। भामह के 'सहितौ' पद की अस्पष्ट व्याख्या को काव्यादर्शकार ने इस प्रकार स्पष्ट किया है।[३] इष्ट अर्थात् मनोरम् हृदयाहलादक अर्थ से युक्त पदावली-शब्दसमूह अर्थात् शब्द और अर्थ दोनों ही काव्य शरीर का निर्माण करते हैं, किन्तु इसे काव्यादर्शकार ने या भामह ने दोनों ने ही काव्य की आत्मा पर कोई प्रकाश नहीं डाला।

दण्डी के बाद वामन आते हैं। वामन ने काव्य शरीर की उतनी चिन्ता नहीं की जितना काव्य के आत्मतत्व का मंथन किया। इन्होंने 'रीति' को काव्य की आत्मा कहा[४] काव्य के सौन्दर्य को बढ़ाने वाले अलङ्कारों को

१. ''शब्दार्थयो: यथावत् सहभावेन विद्या साहित्यविद्या''। काव्यमीमांसा- राजशेखर

२. ''अत: प्रजां व्युत्पत्तिमभिसन्धाय सूरय:।
वाचां विचित्रमार्गाणां निबबन्धु: क्रियाविधिम्।।
तै शरीरं काव्यायानामलङ्काराश्च दर्शिता:।। - काव्यादर्श

३. 'शरीरं तावदिष्टार्थ - व्यवाच्छिन्ना पदावली'

४. रीतिरात्मा काव्यस्य - काव्यालङ्कार सूत्र - १, २, ६

काव्य की ग्राह्यता और उपादेयता का प्रयोजक माना हैं।[1] अब प्रश्न यह उठता है कि रीति क्या है तो इन्होंने इसे स्पष्ट करते हुये कहा कि विशिष्ट पदरचना का नाम ही रीति है। पदरचना की विशिष्टता का तात्पर्य गुणात्मकता से है। ओज माधुर्य आदि प्रकृतिवाली पदरचना को ही ये विशिष्ट पदरचना मानते हैं। इन्होंने गुण और अलङ्कार से अलङ्कृत पदरचना को (शब्द और अर्थ को) काव्य कहा है। पूर्व के प्रचलित शब्द और अर्थ मात्र को काव्य पदवी से अलङ्कृत नहीं कहा। अत: अग्राह्य कहा है।

कालान्तर में आने वाले रुद्रट ने लक्ष्य और लक्षण निर्माण में अपनी अखण्ड मौलिकता का परिचय दिया और रस की महत्ता को विशेष रूप से स्वीकार किया।[2] वहीं इसके पूर्व वक्रोक्तिजीवितकार ने वक्रोक्ति: काव्यस्य जीवितम् कहकर कवि प्रतिभा से प्रदीप्त, सहभाव से व्यवस्थित, वक्रोक्ति गर्भित काव्य ही सहृदयजनों को आस्वाद्य माना है। बन्ध में व्यवस्थित शब्दार्थ ही काव्य है, अर्थात् इनकी दृष्टि में शब्द और अर्थ की तुलना में उक्त वैचित्र्य काव्य के लिये अधिक महत्वपूर्ण है।[3]

वक्रोक्ति जीवितकार ने अपने इस लक्षण में गागर में सागर भरने का काम किया है। अभी तक पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा जो भी लक्षण लक्षित किये गये थे, उन सबका अन्तर्भाव आचार्य कुन्तक ने इस प्रकार कर दिया है- ''शब्दार्थौ सहितौ काव्यं'' से आचार्य भामह, तद्विदाह्लादकारिणी बन्धे व्यवस्थितौ से दण्डी की इष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली तथा वामन की रीति, 'वक्रकवि व्यापारशालिनि से ध्वन्यालोककार, आचार्य आनन्दवर्धन के व्यञ्जना व्यापार प्रधान ध्वनि का तथा काव्यमीमांसाकार के रस दोनों का अन्तर्भाव करके थोड़े में ही बहुत कुछ कहने का स्तुत्य प्रयास किया है। इतना सब कुछ करते हुये भी अतृप्त कवि 'सहितौ' पद के स्पष्टीकरण का प्रयास भी करते हैं, क्योंकि इनके पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा 'सहितौ' पद अस्पष्ट

१. काव्य ग्राह्यमलङ्कारात्, सौन्दर्यमलङ्कार:।
२. ''तस्मात्तत्कर्त्तव्यम् यत्नेन महीयसा रसैर्भुक्तम्''
३. शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणी।। - ''वक्रोक्ति जीवित' १-७

ही रह गया था अतएव वे कहते हैं।[1]

पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा उठाई गयी आपत्ति कि शब्द और अर्थ तो प्रतीति में सदा साथ-साथ ही स्फुटित होते हैं, फिर 'सहितौ' कहकर आप कौन सी अपूर्व स्थिति दिखलाना चाहते हैं ? इसी का उत्तर देते हुए कुन्तकाचार्य ने कहा कि अनयो: (शब्दार्थयो:) शब्द और अर्थ के साहित्य का तात्पर्य काव्य सौन्दर्य के लिये न्यूनत्व या आधिक्य से रहित मनोहारी अवस्था है। साहित्य उसी शब्द और अर्थ के सहभाव का नाम है।

साहित्य शास्त्र के आकाश में उज्ज्वल नक्षत्र के रूप में जो स्थिति वामन की रीति सिद्धान्त के लिये, आनन्दवर्धन की ध्वनि सिद्धान्त हेतु और आचार्य कुन्तक की वक्रोक्ति सिद्धान्त के प्रतिस्थापक के रूप में है वही स्थिति औचित्य सिद्धान्त के लिये आचार्य क्षेमेन्द्र की है। इन्होंने भी अपने तरह से काव्य के लक्षण को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। वे औचित्य को ही काव्य का मूलतत्व मानते हैं। 'औचित्य विचार चर्चा' नामक ग्रन्थ में वे लिखते हैं–

काव्यस्यालमलङ्कारै: किं मिथ्यागणितैर्गुणै:।
यस्य जीवितमौचित्यं विचिन्त्यापि न दृश्यते।।
अलङ्कारस्त्वलङ्कारा: गुणा एव गुणा: सदा।
औचित्यं रस सिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।।

काव्य के उज्ज्वल नक्षत्रों में वाग्देवतावतार आचार्य मम्मट का स्थान सर्वोपरि एवं विद्वद् समादृत भी है। इन्होंने भी काव्य के स्वरूप के निरूपण के प्रसङ्ग में अपनी विलक्षण मेधा का परिचय दिया है - इनका काव्य लक्षण इस प्रकार है–

''तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुन: क्वापि''।

१. ''शब्दार्थौ सहितावेव प्रतीतौ स्फुरत: सदा।
सहिताविति तावेव किम् पूर्वं विधीयते।।
साहित्यमनयो: शोभाशालितां प्रति काप्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्व मनोहारिण्यव्यवस्थिति:।।'' - वक्रोक्तिजीवित - १।१६-१७

आचार्य मम्मट ने शब्द और अर्थ दोनों की समष्टि को काव्य कहा है, ये दोनों मिलकर ही काव्य पद वाच्य होते हैं, अलग-अलग नहीं। वे शब्द और अर्थ कैसे होने चाहिये इसका उत्तर आचार्य देते हुये कहते हैं कि वे शब्द और अर्थ 'अदोषौ' दोष रहित, 'सगुणौ' अर्थात् माधुर्य, ओज और प्रसाद इन तीनों गुणों से युक्त हों और 'अनलङ्कृती पुनः क्वापि' का तात्पर्य यह है कि वे शब्द और अर्थ साधारणतः अलङ्कार सहित होने चाहिये किन्तु जहाँ कहीं रसादि की प्रतीति हो रही हो वहाँ अलङ्कार न होने पर भी कोई बात नहीं।

आचार्य विश्वनाथ ने अपने साहित्य दर्पण नामक ग्रन्थ में मम्मटाचार्य के इस काव्य लक्षण का बलपूर्वक खण्डन किया है, किन्तु इस बात से आचार्य मम्मट तथा विश्वनाथ दोनों ही सहमत हैं कि साधारण दोषों के होते हुये भी काव्यत्व की हानि नहीं होती है। जैसे कीड़ों से खाया हुआ प्रबाल आदि रत्न रत्न ही कहलाता है, उसी प्रकार जिस काव्य में रसादि की अनुभूति स्पष्ट रूप से होती रहती है, वहाँ दोष के होते हुये भी काव्यत्व की हानि नहीं होती।[१]

काव्य प्रकाशकार के इस लक्षण पर आपत्ति न केवल विश्वनाथ ने अपितु रसगङ्गाधरकार आचार्य जगन्नाथ ने भी की है, किन्तु इनकी आलोचना अलग ही है, जहाँ विश्वनाथ ने विशेषण भाग का खण्डन किया, विशेष्य भाग पर कुछ भी नहीं कहा, वहीं पण्डितराज ने विशेष्य भाग की आलोचना तो की है किन्तु विशेषण भाग को छुआ तक नहीं। 'शब्दार्थौ' पद पर पण्डितराज जगन्नाथ को आपत्ति यह है कि काव्यत्व न तो शब्द और अर्थ दोनों की समष्टि में रहता है और न तो व्यष्टि में, अपितु काव्यत्व मात्र शब्द में रहता है। इसलिये काव्यत्व न तो शब्द तथा अर्थ में व्यासज्यवृत्ति से और न प्रत्येक में पर्याप्त दृष्टि से ही होता है। काव्यत्व शब्दार्थ उभयनिष्ठ धर्म नहीं है। केवल शब्द निष्ठधर्म है।[२] पण्डितराज ने इसलिये काव्य का लक्षण

१. कीटानुविद्धरत्नादि साधारण्येन काव्यता।
दुष्टेष्वपि मता यत्र रसायाद्यानुगमः स्फुटः।।

२. यत्तु प्राञ्चः (काव्य प्रकाशकारादयः)- शब्दार्थौ काव्यमित्याहुः, तत्र विचार्यते
तस्माद्वेदशास्त्रपुराणलक्षणस्येव काव्यलक्षणस्यापि शब्दनिष्ठतैवोचिता।।
रसगङ्गाधर पृष्ठ ५.

करते हुये लिखा है- रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द ही काव्य है।[१]

नागेश भट्ट ने पण्डितराज की आलोचना 'नोचिता' कहकर किया है। न केवल नागेश अपितु अन्य आचार्यों ने शब्द और अर्थ में ही काव्य माना है। केवल पण्डितराज जगन्नाथ ही इसके अपवाद हैं।

कतिपय आचार्यों के इस सम्बन्ध में निम्न वचन उद्धृत किये जा सकते हैं-

१. ''गुणालङ्कार सहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ'' - विद्यानाथ

२. शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद् विधा - भामह

३. शब्दार्थौ काव्यम् - रुद्रट

४. अदोषौ सगुणौ सालङ्कारौ च शब्दार्थौ काव्यम् - हेमचन्द्र

५. काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कार संस्कृतयोः शब्दार्थयो वर्तते - वामन

गलितार्थ यह है कि शब्द और अर्थ दोनों में ही काव्यत्व है। यही पक्ष बहुजन समादृत है और यही मान्य है। पण्डितराज की आलोचना युक्तिसङ्गत नहीं है।

ध्वन्यालोककार आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा माना। अपने ध्वन्यालोक ग्रन्थ में उन्होंने यह बात उठाई है कि पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा भी उल्लिखित परम्परा के रूप में भी सतत व्यवहृत होने से यही पक्ष मान्य है।[२]

पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा रूपित काव्य शरीर की पृष्ठभूमि के रूप में काव्य पुरुष की कल्पना करते हुए आचार्य राजशेखर ने अपने काव्यमीमांसा में इसे स्पष्ट करते हुए केवल रस को ही काव्य की आत्मा माना।[३]

१. 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'। - रसगङ्गाधर, पृष्ठ ४.

२. काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व-
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमयः प्रीतये तत्स्वरूपम्।। ध्वन्यालोक १-१.

३. शब्दार्थौ ते शरीरं, संस्कृतं मुखम्, प्राकृतं बाहुः, जघनमपभ्रंशः, पैशाचं पादौ, उरो मिश्रम्। समः प्रसन्नो मधुरं, ओजस्वी चासि। उक्तिपणं च ते वचः, रस आत्मा, रोमाणि छन्दांसि, प्रश्नोत्तर प्रवह्निकादिकं च वाक्केलिः, अनुप्रासोपमादयश्च त्वामलङ्कुर्वन्ति।
-काव्यमीमांसा १३-१४

पण्डितराज जगन्नाथ के पूर्व उनके ही समान भाषा पर अधिकार रखने वाले आचार्य विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थ 'साहित्यदर्पण' में रस को अधिक महत्त्व प्रदान करते हुए लिखा है कि 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' रसात्मक वाक्य ही काव्य है। अब प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या काव्य में रस परिपाक अनिवार्य है या नहीं। यदि इसका उत्तर हाँ में दिया जाय तो दूसरा अर्थ यह हुआ कि ऐसी स्थिति काव्य में सर्वत्र दुर्लभ ही नहीं असंभव है। कहीं-कहीं काव्य में भाव उद्दीप्त होकर ही रह जाते हैं और ये उद्दीप्त भाववाली रचनायें तो किसी भी दशा में इस काव्य की कोटि में नहीं आ पायेंगी।

पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रसगंगाधर' में काव्य के स्वरूप को इस तरह परिभाषित किया है ''रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'' अर्थात् रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है। इस परिभाषा में 'रमणीय' शब्द अधिक ग्राह्य है। इससे ध्वनि, भाव, अलङ्कार इत्यादि काव्य की परिधि में आते हैं। पण्डितराज ने मात्र 'शब्द' का प्रयोग किया है अर्थात् वे शब्द को ही काव्य मानते हैं न केवल अर्थ या शब्द और अर्थ दोनों को। उनके अनुसार काव्य मूलतः शब्दरूप (उक्ति रूप) है, अर्थ तो शब्द का विशेषण है।

इनकी प्रबुद्ध विलक्षणता और पाण्डित्य पूर्ण शैली से प्रभावित होकर 'सुशील कुमार डे' ने पण्डितराज की प्रतिभा प्रशस्ति में लिखा है।[१] इन्होंने प्राचीन और नवीन में सामंजस्य स्थापित करने के साथ-साथ प्राचीनों के सिद्धान्तों में अपनी निपुणता प्रदर्शित की है। यहाँ तक कि मम्मट और रूय्यक के सम्प्रदाय ने इनसे बहुत कुछ प्राप्त किया है।

१. "He shows himself conversant with the poetic theories of endeavours to harmonise with the new currents of thought. Alongwith some other important writers of the new school, Jagannath makes a reaction in this respect and the school of Mammat and Ruyyaka does not receive from him unqualified homage." Hostory of Sanskit Poetics - S.K. Dey.

इसी सन्दर्भ में चित्र मीमांसाकार अप्पय दीक्षित की कृतियों में काव्य लक्षण ही नहीं है, यह इस नियम के अपवाद है कि संस्कृत साहित्य में काव्य लक्षण से ही काव्य का आरम्भ होता है। यद्यपि चित्रमीमांसा की सुधा व्याख्या में एक काव्य लक्षण निम्नवत् है-[१]

भले ही इस काव्य लक्षण के साथ-साथ काव्यलक्षणकार का नाम सुधाकार ने नहीं दिया है, किन्तु गहन चिन्तन के उपरान्त यह सिद्ध होता है कि इस काव्य लक्षण की संगति दीक्षित की काव्यशास्त्रीय मान्यताओं से बैठ जाती हैं। चित्र मीमांसा में ऐसे ही अलंकार प्रधान वर्णनात्मक अर्थ चित्र काव्य की व्याख्या की गयी है।

इससे यह सिद्ध होता है कि काव्य को दोष रहित, रसान्वित, ललित और रमणीय अर्थ के प्रतिपादन में सक्षम होना चाहिए।

दुर्भाग्य से संस्कृत साहित्य में कालान्तर में इस परम्परा का प्रस्फुटन बन्द सा हो गया और इसका स्थान हिन्दी समीक्षकों ने ले लिया। इनमें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हरिऔध और पाश्चात्य समीक्षकों में ड्राइडन के नाम उल्लेखनीय हैं। प्रसंगानुसार इस पर एक दृष्टि डाल लेना अनुचित नहीं होगा।

''हृदय की मुक्तावस्था (रसदशा) के लिए मनुष्य की वाणी जो विधान करती आई है वही काव्य है।'' - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

''कविता मन की एक विशिष्ट मनोदशा का प्रतिफलन है, वह मनुष्य की उस दृष्टि का नाम है, जो वस्तुओं के उन आभ्यन्तर रूपों को देखती है और दर्शाती है जो रूप विज्ञान में देखे नहीं जा सकते हैं।'' - हरिऔध

ड्राइडन ने भावात्मक और छन्दोबद्ध विशेषण देकर काव्य के स्वरूप पर कोई प्रकाश नहीं डाला है, वहीं अन्य साहित्यकारों में मिल्टन ने काव्य में प्रत्यक्षता और रागात्मकता को आवश्यक माना है। अंग्रेजी साहित्य में प्रकृति कवि के रूप में विख्यात वर्ड्सवर्थ की पंक्तियाँ बहुत कुछ काव्य स्वरूप को रेखांकित करती हैं-

"Poetry is the spontaneous overflows of powerful feelings. It takes its origin from emotions recollected in tranquility."

१. काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणस्य कवेरसाधारणं कर्म- चित्रमीमांसा, पृ० २२

अत: पूर्व एवं पाश्चात्य की विवेचना के उपरान्त हम इस तथ्य पर पहुँचते हैं कि काव्य रसात्मक होता है जिसमें नीरस पक्ष को भी सरसरूप में अनुभूतियों के माध्यम से व्यक्त किया जाता है।

मानव के सम्यक विकास में काव्य की सृष्टि आवश्यक होती है। जिसमें जीवन के मनोरम सत्य का उद्घाटन हो। वही काव्य सार्थक होता है, वस्तुत: जिसमें लोक कल्याण की मंगलमय भावना हो, सत्यं, शिवं, सुन्दरम् की उदात्त भावना हो। यहाँ स्वान्त सुखाय की तृप्ति होती और सहृदय जनों को आत्मानन्द सहोदर की अनुभूति होती है। यहीं लोक को यह शिक्षा मिलती है कि ''रामावत् वर्तितव्यम् न तु रावणादिवत्''। यही ''कान्तासम्मित उपदेश'' ही सार्थक काव्य की श्रेणी में स्थान पाता है।

काव्य प्रकाशकार आचार्य मम्मट ने काव्य के तीन भेद माने हैं-

१. ध्वनि काव्य, २. गुणीभूत व्यंग्य काव्य, ३. चित्र काव्य।

काव्य शास्त्रीय परम्परा में ध्वनिकाव्य को उत्तम काव्य, गुणीभूत व्यंग्य काव्य को मध्यम काव्य तथा चित्र काव्य को अधम श्रेणी में रखा गया है।

काव्य भेदों के सम्बन्धों में भी आचार्यों में मतभेद है- विश्वनाथ आचार्य ने साहित्य दर्पण में काव्य के दो ही भेद माने हैं- ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य। रस सम्प्रदायवादी आचार्यों ने दो ही भेदों को स्वीकृत किया। रस शून्य होने के कारण तृतीय (अधम) भेद में उन्हें काव्यत्व अभीष्ट नहीं है। पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य के तीन भेद न मानकर कुल चार भेद माने हैं- तच्चोत्तमोत्तमयोत्तममध्यमाधमभेदाच्चतुर्धा- अर्थात् उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम तथा अधम।

प्रथम भेद- उत्तमोत्तम काव्य- जिस काव्य में शब्द और अर्थ (वाच्यार्थ) अप्रधान रहते हुए किसी अन्य अर्थ को अभिव्यक्त करें तो वह काव्य उत्तमोत्तम काव्य कहलाता है।[१]

१. ''शब्दार्थौ यत्रगुणीभावितात्मानौ कमप्यर्थमभिव्यक्तस्तदाद्यम्।'' -रस गंगाधर, पृ० ९

द्वितीय भेद- उत्तम काव्य- अर्थात् जिस काव्य में व्यंग्यार्थ अप्रधान रहते हुए ही चमत्कार का कारण हो, वह द्वितीय श्रेणी का काव्य होता है।[१]

तृतीय भेद- मध्यम काव्य- ''यत्र व्यंग्यचमत्कारासमानाधिकरणो वाच्य-चमत्कारस्ततृतीयम्।''

अर्थात् जहाँ व्यंग्यार्थ से होने वाला चमत्कार का और वाच्य अर्थ से होने वाले चमत्कार का अधिकरण असमान हो वहाँ काव्य का तृतीय भेद होता है।

चतुर्थ भेद- काव्य का चतुर्थ भेद अधम काव्य- अर्थात् जहाँ अर्थकृत चमत्कार से शब्दकृत चमत्कार उपस्कृत होता हो वहाँ अधम काव्य होता है।

इन सबसे परे हटकर अप्पय दीक्षित ने काव्य के भेद तीन ही माने हैं-

ध्वनि काव्य- जहाँ वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ प्रधान हो जैसे-

''निश्शेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्ट रागोऽधरो।
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनु:।
मिथ्यावादिनी दूति वान्धवजनस्याज्ञात् पीडागमे।
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम्।।

-चित्रमीमांसा-२६

तुम्हारे स्तनों के किनारों से चन्दन वह गया, अधरों में लालिमा नहीं रही, आँखों का काजल पुत गया, देह पुलकित है। दूती, तू झूठ बोल रही है। मेरी व्यथा को तू नहीं समझती। तू यहाँ से नहाने गई थी, उस नीच को मेरा सन्देश देने नहीं गयी।

पद्य में जो 'अधम्' पद का प्रयोग हुआ है उससे नायक का दूती के साथ सम्भोग रूप कृत्य व्यञ्जित हो रहा है। अत: यहाँ ध्वनि काव्य है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने प्राचीन आलङ्कारिकों से विरोध और उपपत्ति विरोध के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि अप्पय दीक्षित की व्याख्या न तो प्राचीन आलङ्कारिकों के अनुरूप है और न ही अभीष्ट सिद्धि के अनुकूल ही, अत: अमान्य है।

१. ''यत्रव्यंग्यमप्रधानमेव सच्चमत्कारकारणम्।'' -रस गंगाधर, पृ० १६

प्राचीन आलङ्कारिकों से विरोध का तात्पर्य यह है कि ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन ने ''भ्रम धार्मिक''- इस पद्य में व्यञ्जनों का साधारण प्रतिपादित किया है। वहीं काव्य प्रकाशकार ने काव्य प्रकाश के पञ्चम उल्लास के अन्त में कहा है कि सम्भोग के व्यञ्जना का हेतु जो चन्दनच्यवनादि हुआ है वह अन्य कारणों से भी तो हो सकता है। सम्भोग से ही हो ऐसा कोई नियम नहीं है जैसा कि दूती ने बावली स्नान को बताया है, ऐसा भी हो सकता है। अत: चन्दनंच्यवनादि हेतु अनैकान्तिक है।

उपपत्ति विरोध से आशय यह है कि (१) किसी व्यंग्यार्थ के प्रति व्यंजकों का असाधारण होना आवश्यक नहीं है। (२) जो अर्थ व्यंजना लभ्य होना चाहिए, वह लक्षणालभ्य हो जायेगा जैसे- ''चन्दनच्युत'' को यदि सम्भोगजन्य मान लें तो ''वापीं स्नातुमितो गतासि'' यहाँ स्नान के साथ चन्दनच्युत का अर्थ बाधित होने से विरोधिलक्षणा की प्रवृत्ति होगी और उससे ही वापीं स्नातुमितोगतासि अर्थात् तदन्तिकमिति- यह व्यंजना की प्रवृत्ति नहीं होगी और व्यंग्यार्थ की उपपत्ति भी नहीं हो सकेगी। (३) व्यंजना की प्रवृत्ति स्वीकार कर लेने पर भी यह पद्य ध्वनिकाव्य का उदाहरण नहीं हो सकेगा। वाच्यार्थ की सिद्धि संभोग रूप व्यंग्यार्थ का बोध होने पर ही होगी और उस स्थिति में व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की सिद्धि का अंग बन जाने से गुणीभूत व्यंग्य में समाहित हो जायेगा।

किन्तु दीक्षित का मत ही मान्य है, जगन्नाथ का नहीं। कोई भी काव्य गुणीभूत व्यंग्य का विषय तभी बनता है जब उसमें व्यंग्यार्थ से उपस्कृत होकर वाच्यार्थ में ही रस की विश्रान्ति हो। किन्तु जहाँ व्यंग्यार्थ से उपस्कृत होकर वाच्यार्थ किसी दूसरे व्यंग्यार्थ का बोध कराता है तब वह ध्वनिकाव्य का विषय हो जाता है। प्रस्तुत पद्य में दूती और नायक के बीच सम्भोग का ही द्योतक 'अधम' पद नहीं है, अपितु इससे नायिका का दूती और नायक के प्रति रोष भी ध्वनित हो रहा है, अत: यहाँ ध्वनिकाव्य है।

गुणीभूत व्यंग्य- जहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से उत्कृष्ट न हो।[1] आचार्य मम्मट ने इसका लक्षण इस तरह किया है-

१. ''यत्र व्यंग्यं वाच्यानतिशायि तद् गुणीभूतव्यंग्यम्।'' -चित्रमीमांसा, पृ० ३२

''अतादृशिगुणीभूतव्यंग्यं व्यंग्ये तु मध्यमम्''

दीक्षित जी ने गुणीभूत व्यंग्य का उदाहरण इस प्रकार दिया है-

''प्रहर विरतौ मध्ये वाह्नस्ततोऽपि परेऽथवा।
किंमुत सकले याते वाह्नि प्रिय त्वमिहैष्यसि।
अति दिनशत प्राप्य देशं प्रियस्य यियासतो।
हरति गमनं बालालापै: सवाष्पगलज्जलै:।।''

''एक पहर उपरान्त या मध्यान्ह में या अपराह्न में या पूरा दिन बीत जाने पर प्रिय ! तुम लौट आओगे न ? इस तरह कहती हुई प्रिया जहाँ पहुँचने में सौ दिन लग जाते हैं उस दूर देश में जाने को उद्यत प्रिय की यात्रा को आँसू बहाकर रोक रही है।''

यहाँ नायिका अपने मार्मिक वचनों से आँसू बहा-बहाकर प्रिय गमन को रोक रही है यह तो वाच्यार्थ है, किन्तु यदि तुम पूरा दिन बीत जाने पर भी नहीं आओगे तो मेरे प्राण नहीं रहेंगे यह व्यंग्यार्थ है जो कि वाच्यार्थ का उपस्कारक है, अत: यहाँ गुणीभूत व्यंग्य है।

पण्डितराज ने खण्डन करते हुए कहा कि अर्थ से ही अश्रुसहित आलाप ही प्रिय गमन निवारण में समर्थ हैं। अत: अर्थ की संगति हो रही है, इस प्रकार जब वाच्यार्थ स्वयं सिद्ध है तो व्यंग्यार्थ को उसका अंग कहकर इसे गुणभूत व्यंग्य मानना अनुचित है।

दूसरा तर्क पण्डितराज ने यह दिया कि यदि व्यंग्यार्थ (तत: परं प्राणान् धारयितुं न शक्नोमि) को अप्रधान मान भी लिया जाय तो उसके अतिरिक्त नायकादि के जो आलम्बन विभाव, अश्रु आदि के अनुभाव और चिन्ता, आवेग आदि के संयोग से विप्रलम्भ शृंगार ध्वनित हो रहा है। वह इसे उत्तम काव्य की श्रेणी में ला रहा है, अत: यह उत्तम काव्य का उदाहरण है।

किन्तु विप्रलम्भ शृंगार तब होता है जब विरह ध्वनित हो जाय। यहाँ तो न विरह घटित हुआ है और न उसे घटित ही होना है, जैसा कि परिहरति 'पद' से स्पष्ट है। अत: यहाँ विप्रलम्भ शृंगार रूप असंलक्ष्यक्रम ध्वनि का विषय नहीं हो सकता है। यह गुणीभूत व्यंग्य ही है।

चित्र काव्य- तीसरे प्रकार का काव्य चित्र काव्य है। इसका लक्षण आचार्य मम्मट ने इस प्रकार दिया है-

व्यंग्य से रहित शब्द चित्र तथा अर्थ चित्र दो प्रकार का अधम काव्य है।[१]

पण्डितराज जगन्नाथ ने कहा कि जहाँ अर्थकृत चमत्कार से शब्द कृत चमत्कार उपष्कृत होता हो वहाँ अधम काव्य होता है।[२]

अप्पय दीक्षित जी ने चित्र काव्य का लक्षण इस प्रकार किया है- जहाँ व्यंग्यरहित अथवा ईषत् व्यंग्य युक्त होते हुए भी वाच्यार्थ सुन्दर हो।[३]

ध्वनिकाव्य में व्यंग्यार्थ प्रधान होता है। गुणीभूत व्यंग्य काव्य में व्यंग्यार्थ गौण होता है, चित्र काव्य में व्यंग्यार्थ होता ही नहीं और यदि होता भी है तो वह स्फुट नहीं होता है। यहाँ व्यंग्य के अभाव की पूर्ति गुण और अलंकार द्वारा होती है।

वस्तुत: समीक्षोपरान्त निष्कर्ष यही निकलता है जो कि मुझे भी मान्य है कि काव्य के तीन भेद जो आचार्य मम्मट और दीक्षित ने बतलाये हैं वे ही तर्क संगत हैं। जगन्नाथाचार्य कृत काव्य के चतुर्धा भेद वस्तुत: इन्हीं तीन में ही अन्तर्भुक्त हो जाते हैं, अत: तीन ही भेद उचित हैं। जगन्नाथ द्वारा उत्तमोत्तम एवं उत्तम ये दो काव्य के भेद वस्तुत: उत्तम काव्य के ही अन्तर्गत आते हैं। अप्पयदीक्षित का अनेक स्थलों पर पण्डितराज द्वारा किया गया खण्डन अनुचित है। सहृदयता से हटकर नैयायिकता को प्रधानता देकर इनके द्वारा अप्पय दीक्षित की आलोचना तर्क की कसौटी पर न्यायोचित नहीं है।

अप्पय दीक्षित ने चित्र काव्य के तीन भेद माने हैं- शब्द चित्र, अर्थ चित्र और उभय चित्र। शब्द चित्र में शब्दालंकार, अर्थ चित्र में अर्थालंकार और उभयचित्र में शब्दार्थालंकार होते हैं। इन तीनों में शब्दार्थ व्यंग्य नहीं होता है और यदि होता है तो वह अलंकार गोचर ही होता है। इन तीनों को

१. ''शब्दचित्रं वाच्यचित्रम्व्यंग्यंत्ववरं स्मृतम्''। काव्य प्रकाश १-४-५
२. यत्रार्थचमत्कृत्युपस्कृता शब्दचमत्कृति: तदधमं चतुर्थम्। -रसगंगाधर-१६
३. ''यदव्यंग्यमपि चारु तच्चित्रम्''। -चित्रमीमांसा-३५

चित्र मीमांसा में अप्पय दीक्षित ने इस तरह से व्यक्त किया है-

शब्दचित्र- जहाँ शब्दालंकार प्रधान हो, वहाँ, शब्दचित्र होता है।[१] जैसे-

नवपलाशपलाशवनंपुर:
स्फुटपरागपरागतपंकजम्।
मृदु लतान्तलतान्तमलोकयत्
स सुरभिं सुरभिं सुमनो भरै:।।[२]

श्रीकृष्ण ने कुसुम सौरभ से सुरभित वसन्त ऋतु को देखा जब पलाश के पौधों पर पत्तियाँ उग आयी थीं, कमलों के भीतर पराग भर गया था और (धूप में) कोमल पत्ते मुरझा गये थे।

यहाँ यमक और वृत्त्यनुप्रास दोनों ही शब्दालंकार काव्य चमत्कृति के आधायक हैं।

दीक्षित जी ने शब्दचित्र का चित्र मीमांसा में कोई उल्लेख नहीं किया है, इससे सिद्ध होता है कि वे प्राचीन आचार्यों की तरह शब्द चित्र को महत्व नहीं देते हैं।

अर्थचित्र- जहाँ अर्थालंकार प्रधान हो।[३] उदाहरण के रूप में उत्प्रेक्षालंकार का यह प्रयोग काव्य में वैचित्र्य उत्पन्न कर रहा है-

स छिन्नमूल: क्षतजेनरेणु
स्तस्योपरिष्टात्पनावधूत:।
अलंकारशेषस्य हुताशनस्य।
पूर्वोत्थितो धूमइवावभाषे।।

यहाँ रक्त रञ्जित् भूतल की ज्वलन्त अलंकार के साथ तुलना भी की गयी है। यहाँ उत्प्रेक्षालंकार से काव्य में चमत्कार उत्पन्न हो गया है।

१. ''शब्दविषयकगुणालंकारचमत्कृतिविशेषवत्वम्''। -चित्रमीमांसा, पृ० ३५
२. शिशुपालवधम् - ६-२
३. ''अर्थोपयोगिगुणालङ्कारस्वचमत्कारवत्वम्''। -चित्रमीमांसा-३५

उभयचित्र- जहाँ शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार दोनों प्रधान हों[1] जैसे-

वराह: कल्याणं वितरतु सव: कल्प विरमे
विनिर्धुन्वन्नौदन्वतमुदकमुर्वीमुदवहत्।
खुरा धातत्रुट्यत्कुलशिखरिकूटप्रविलुठ-
च्छिलाकोटिस्फोट स्फुट घटित मङ्गल्य निबह:।।

-चित्रमीमांसा-३७

यह वृत्त्यनुप्रास शब्दालङ्कार एवं रूपक अर्थालङ्कार भी है, दोनों अलङ्कार चमत्कार के आधायक हैं इसीलिये दीक्षित ने इसे उभयचित्र कहा है।

वाग्देवतावतार मम्मट ने केवल शब्दचित्र और अर्थचित्र भेद को ही स्वीकार किया है। व्यङ्ग्यार्थ से हीन होने के कारण चित्र काव्य को अधम कहा है। विश्वनाथ चित्र काव्य को मानते ही नहीं[2] इन्होंने कहा कि व्यङ्ग्यत्व की हीनता की स्थिति में काव्यत्व नहीं रहता। ऐसी स्थिति में व्यङ्ग्य न होने पर गुण और अलङ्कार भी व्यर्थ हो जावेंगे। अत: काव्यशास्त्र में विश्वनाथ के इस चित्रकाव्य विरोधी विचार को कोई मान्यता प्राप्त नहीं है। वहीं अन्यों ने यथा ध्वनिवादी आचार्यों में प्रमुख ध्वन्यालोककार आचार्य आनन्दवर्धन तथा पण्डितराज जगन्नाथ आदि ने व्यङ्ग्य के अभाव में भी अलङ्कार घटित चित्रकाव्य को मान्यता दी है। इनके मत से व्यङ्ग्यक प्रधान होने पर काव्य ध्वनि काव्य और गुणीभूत हो जाने पर गुणीभूत काव्य और व्यङ्ग्य के अभाव में अलङ्कार प्रधान काव्यचित्र काव्य की कोटि में माना जाता है।[3]

चित्रमीमांसा मूल रूप से एक आलोचनात्मक एवं गम्भीर शैली का ग्रन्थ है। अपने पूर्व कालिक अलङ्कारिकों में वस्तुत: जिस यथार्थ विमर्श की आवश्यकता थी इसे उन्होंने बहुत हद तक पूरा किया। ये संग्राहक होने के साथ-साथ प्रवीण विवेचक थे। दीक्षित जी ने वस्तुत: चित्र सम्बन्धी अभिव्यक्ति

१. उभयविषयकगुणालङ्कारचमत्कृतिमत्वम्''। -चित्रमीमांसा-३५
२. साहित्यदर्पण- ४-१५५.
३. ''प्रधानगुणभावाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैवं व्यवस्थिते।
उभे काव्ये तदन्यद् यत्तच्चिमभिधीयते।'' -आनन्दवर्धन-ध्वन्यालोक ३-६८

को और अधिक प्रौढ़ एवं प्राञ्जल रूप में प्रस्तुत किया।

ये स्पष्ट अभिव्यक्ति वाले आचार्य तथा अलङ्कार का कैसा प्रयोग हो इस तरफ उतना चिन्तित नहीं थे जितना कि उसके प्रतिपाद्य विषय की ओर इनके विषय और विषय व्यञ्जना में (manner) में ऐसी असमानता परिलक्षित होती है जिसके कारण पण्डितराज जगन्नाथ को टीका-टिप्पणी करने का अवसर सुलभ हुआ।

चित्र काव्य में रसादि तत्व का अभाव रहता है। साथ ही व्यंग्यार्थ की प्रकाशन शक्ति से भी 'वह शून्य' रहता है, केवल शब्द और अर्थ की चमत्कृति से ही काव्य को चित्रित किया जाता है।[1] इस तरह का काव्य मात्र काव्यानुकरण है, न कि काव्य- ''न तन्मुख्यं काव्यम्, काव्यानुकरोह्यसौ'' इन्होंने चित्र काव्य को निम्न रूप में चित्रित किया-

''रस भावादि विषय विवक्षाविरहे सति।
अलङ्कार निबन्धो य: स चित्रविषयोमत:।।
रसादिषु विवक्षा तु स्यात्तात्पर्यवती यदा।
तदानास्त्येव तत्काव्यं ध्वेनेर्यत्तु न गोचर:।। - ध्वन्यालोक

आनन्दवर्धन ने तो चित्र काव्य को रसात्मकता का अभाव होने से केवल वाग्विकल्प मात्र माना है।[2]

दीक्षित जी ने प्रवीण विवेचक के रूप में चित्रमीमांसा में १२ अलङ्कारों की गहन समीक्षा की जिसका पण्डितराज ने खण्डन किया है। ये अलङ्कार निम्नवत् हैं-

१. उपमा, २. उपमेयोपमा, ३. अनन्वय, ४. स्मरण, ५. रूपक, ६. परिणाम, ७. ससंदेह, ८. भ्रान्तिमान, ९. उल्लेख, १०. अपह्नुति, ११. उत्प्रेक्षा, १२. अतिशयोक्ति।

१. ''ततोऽन्यद्रसभावादितात्पर्यरहितं व्यङ्ग्यार्थ विशेष प्रकाशन शक्ति शून्यं च काव्यं केवलवाच्यवाचक वैचित्र्यमात्राश्रयेणोपनिबद्ध मालेख्य प्रख्यं यदाभासते तच्चित्रम्।।''
-आचार्य आनन्दवर्धन-१
२. ''एतत्तु चित्तं कवीनां विशृङ्खल गिरां रसादि तात्पर्यमनपेक्ष्यैव काव्य प्रवृत्ति दर्शनाद्स्माभि: परिकल्पितम्।।'' -ध्वन्यालोक लोचन-२

कालान्तर में हिन्दी साहित्य के ऊपर इसका गहरा प्रभाव पड़ा है। कहीं-कहीं तो इससे प्रभावित होकर इसके लक्षण एवं उदाहरण ज्यों का त्यों ले लिये गये हैं, अत: हम कह सकते हैं कि दीक्षित जी अपनी इस कृति के कारण आज भी जीवित हैं। हिन्दी साहित्य में मुक्तक काव्य की श्रीवृद्धि दीक्षित जी की देन कही जा सकती है।

हमारा प्रतिपाद्य विषय चित्र मीमांसा के संदर्भ में दीक्षित एवं पण्डितराज के विचारों की समालोचना है जिसका आगे के अध्यायों में क्रमश: विवेचन किया जायेगा। दीक्षित जी की मीमांसा को तर्कपुष्ट कल्पना कहा जाये तो कोई अतिशयोक्ति नहीं क्योंकि इनकी विचारधारा विभिन्न फलक पर सुनियोजित की गई है। चित्रमीमांसा के कार्य में दीक्षित जी को जो आशातीत सफलता मिली है, वे जितनी गहराई तक जाकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचना प्रस्तुत करते हैं इसे कोई भी तटस्थ आलोचक भली-भाँति देख सकता है। यह कितनी विचित्र बात है कि दीक्षित जी शब्दालङ्कारों को व उन पर आधारित शब्द चित्रों को नीरस और हेय समझते हैं।[१] इन्होंने चित्रमीमांसा में अर्थ चित्र को ही महत्व दिया है और उन्हीं के उपस्कारक अलङ्कारों का विवरण दिया। इन्होंने अलङ्कारों को साधन माना है, साध्य नहीं, अलङ्कार प्रधान चित्रकाव्य प्राय: वर्णनात्मक हैं या भावात्मक। कल्पना के द्वारा चेतन यक्ष की भावनाओं को अचेतन मेघ से जोड़ देना सुन्दर भाव प्रवणता का ही परिचायक है। भावनाओं के सहयोग से ही कल्पना चित्र को निर्मित करती है। तर्क का पुट समाप्त होते ही चित्र बनना समाप्त हो जाते हैं। चित्र काव्य की रचना में अलङ्कारों का महत्वपूर्ण योगदान है। कहीं वह सादृश्य रूप में कहीं आरोपमूलक या अध्यसाय रूप में रहता है किन्तु तभी तक जब तक हमारे विचार कल्पना से अपना सम्पर्क बनाये रखते हैं। चित्रमीमांसा दीक्षित की अपूर्ण कृति है। इसमें जिन बारह अलङ्कारों का विवेचन किया गया है उसी पर क्रमश: आगे विचार किया जायेगा।

काव्य का भेद करते हुए ध्वनिकाव्य के उदाहरण के रूप में सभी आलंकारिक एक मत से ''नि:शेषच्युतचन्दनम्'' इस पद्य को उद्धृत करते

१. 'शब्दचित्रस्य प्रायो नीरसत्वान्नात्यन्तं तदाद्रियते कवय; न वातत्र विचारणीयमतीवोपलभ्यत् इति शब्दचित्रां शमपहायार्थ चित्रमीमांसा प्रसन्नविस्तीर्णा प्रस्तूयते।'' -चित्रमीमांसा-४०

हैं।[१] हाँ इस बात में सभी में भेद अवश्य है कि कोई इसमें अभिधामूलध्वनि मानते हैं तो कोई लक्षणामूलध्वनि।[२] यहाँ पहले तो अभिधेयार्थ और लक्ष्यार्थ में वैपरीत्य रूप सम्बन्ध के रहने से विपरीत लक्षणा द्वारा लक्ष्यार्थ निकल रहा है। जहाँ तक आचार्य मम्मट, जगन्नाथ एवं अप्पय दीक्षित इत्यादि का प्रश्न है वे अभिधामूलध्वनि स्वीकार करते हैं और विश्वनाथ ने तो लक्षणामूलध्वनि स्वीकार किया है। अभिधामूलध्वनि को स्वीकार करने वाले अप्पय दीक्षित के मतानुसार- ''तेरे स्तनों के अग्रभाग का चन्दन घुल गया, अधरों में लालिमा नहीं रही, आँखों का काजल पुत गया, देह पुलकित है। दूती! तू असत्य बोल रही है। मेरी कथा को न समझने वाली तू यहाँ से बावली में नहाने गयी थी, उस नीच व्यक्ति को मेरा सन्देश देने नहीं गई।

यहाँ नायिका दूती से कह रही है कि तेरे अंगों-प्रत्यंगों से ही यह पता चल रहा है कि तू बावली में नहाकर आयी है, उस नीच को तूने सन्देश नहीं दिया। किन्तु नायिका के कहने का तात्पर्य यह है कि तू उस नीच के साथ सम्भोग करके आयी है। तेरे शरीर की अवस्था ही यह प्रकट कर रही है। अधम पद के प्रयोग से नायक का दूती के साथ सम्भोग व्यंजित होने से यहाँ ध्वनिकाव्य है।

''रसगंगाधर'' में अप्पयदीक्षित की व्याख्या निम्न प्रकार है-

नि:शेषम्- उत्तरीय को खींचने से चन्दन का च्युत होना सिद्ध न हो जाय अत: नि:शेष पद का ग्रहण किया गया है। यह चन्दन च्यवन स्नानादि सामान्य कारणों से नहीं है क्योंकि उससे सम्पूर्ण प्रदेश ही चन्दनरहित हो जाता अत: 'तटम्' पद का ग्रहण करके आलिंगन कृत व्यवहार को प्रदर्शित करते हुए सम्भोग के चिह्न का उद्घाटन किया गया है।

निर्मृष्टरागोऽधर- ताम्बूलादि के विलम्ब व्यवहार से भी लालिमा का क्षीण हो सकता है इस प्रकार की सम्भावना का परिहार करने के लिए ही

१. नि:शेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोधरो
नेत्रे दूरमनंजने पुलकिता तन्वी तवेयं तनु:।
मिथ्यावादिनि दूति ! बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यानितकम्।। - चित्रमीमांसा, पृ० १७

२. साहित्य दर्पण, पृ० ८, अत्र तदन्तिकमेव रन्तुंगतासीत विपरीतलक्षणया लक्ष्यम्। तस्यं च रन्तुंमितिव्यंग्यम् प्रतिपाद्यं दूती वैशिष्ट्याद् बोध्यते।

रक्तिमा की नि:शेषमृष्टता कही गयी है। स्नानादि कारणों का व्यावर्तन और सम्भोगव्यवहार को पतित करने के लिए ही अधर पद को विशेष्य रूप से ग्रहण किया गया है। अत: उत्तरोष्ठ के रक्तिम रहने से अधरोष्ठ की अरक्तता चुम्बनादि व्यवहार जनित होने से यह भी ध्वनि काव्य का उदाहरण है।

पण्डितराज की दृष्टि में नि:शेषादि विशेषणों के कारण ही चन्दन च्यवन आदि कार्यों की सम्भोग जन्य होना निश्चित होता है।

यहाँ दोनों के ही मत में ''वापींस्नातुमितो गतासि, न पुन: तस्याधमस्यान्तिकमिति यह अर्थ व्यंग्यार्थ है। किन्तु पण्डितराज के मतानुसार अप्पयदीक्षित ने जिस प्रकार इसकी व्याख्या की है, उसके अनुसार यह अर्थ व्यंग्यार्थ न होकर लक्ष्यार्थ हो जाता है तथा यह पद गुणीभूत व्यंग्य के अन्तर्गत समाहित हो जाने से ध्वनिकाव्य का विषय नहीं रह जाता। अप्पयदीक्षित की व्याख्या को दोषयुक्त मानते हुए वे इसमें दो दोष दिखलाते हैं-

१. प्राचीन आलंकारिक ग्रन्थों का विरोध

२. उपपत्ति विरोध।

ग्रन्थविरोध :

यहाँ प्राचीन आलंकारिक ग्रन्थों से तात्पर्य है- ध्वन्यालोक व काव्य-प्रकाश से।

मम्मटाचार्य ने काव्य प्रकाश के पंचम उल्लास के अन्त में कहा है कि नि:शेष इत्यादि पद्य में चन्दन च्यवनादि को सम्भोग के हेतु ''व्यंजक'' के रूप में प्रतिपादित किया गया है वह अन्य कारणों से भी हो सकता है जैसा कि 'स्नातुम' के माध्यम से इसी पद्य में कहा गया है। अत: सम्भोग से ही हो, ऐसा कोई नियम नहीं है।''[1]

इसी प्रकार 'ध्वन्यालोक' में आनन्दवर्धनाचार्य ने प्रथम उद्योत में

१. निशेषेत्यादौ गमकतया यानिचन्दन व्यवनादीन्युयपातानि तानि कारणान्तरतोपि भवन्ति, अतश्चात्रैव स्नानकार्यतवेनोक्तानीति नोपभोगे एव प्रतिबद्धानीत्यनेकान्तकानि काव्यप्रकाश ५ व्यञ्जनानि, पृ० १०६

व्यञ्जकों का साधारण्य ही प्रतिपादित किया है, उनका असाधारण्य नहीं।[1]

अलंकारशास्त्र सिद्धांत प्रतिपादक, साहित्यशास्त्र के मेरुदण्ड स्वरूप में प्रामाणिक जो मम्मटादि आचार्य हैं वे व्यञ्जकों का असाधारण्य स्वीकार नहीं करते हैं। इस कारण से व्यंग्यार्थ के असाधारण्य का प्रतिपादन प्राचीन समस्त ग्रन्थों के विरुद्ध है। यद्यपि दीक्षित जी ने शब्दश: अपने ग्रन्थ में काव्यों का असाधारण्य स्वीकार नहीं किया है। फिर भी उनके ग्रन्थों के अवलोकन से यह ध्वनित होता है कि अत: यहाँ उनका प्राचीन आलंकारिकों से विरोध है।

उपपत्ति विरोध :

१. यदि नि:शेष इत्यादि अवान्तर वाक्यार्थों की व्यंग्यार्थ के प्रति असाधारण्यता मान लें क्योंकि इससे स्नानादि अन्य कारणों का व्यावर्तन होता है तो यह ठीक नहीं है क्योंकि उस असाधारण्यता का कोई प्रयोजन ही नहीं है। किसी व्यंग्यार्थ के प्रति व्यञ्जकों का असाधारण होना आवश्यक नहीं है। अत: व्यञ्जकों के असाधारण होने से व्यंग्यार्थ उपपन्न नहीं हो सकेगा।

२. यदि चंदनच्यवनादि को संभोगमात्रजन्य मान भी ले तो भी ''वापीं स्नानुमितोगतासि'' इस मुख्यार्थ में स्नान के साथ उनका (चंदन च्यवनादि) का अर्थ बाधित होने से वहाँ विरोधी लक्षणा की प्रवृत्ति होगी और उससे ही ''वापीं स्नातुमितो न गतासि अपितु तदन्तिकम् इति'' यह अर्थ ज्ञात हो जाने पर व्यञ्जना की प्रवृत्ति ही नहीं हो पायेगी, और व्यंग्यार्थ की उपपत्ति भी नहीं हो सकेगी। कहने का अर्थ है कि जिस अर्थ को व्यंञ्जनालभ्य होना चाहिए वह लक्षणालभ्य हो जायेगा।

३. किसी तरह व्यञ्जना की प्रवृत्ति स्वीकार कर लेने पर भी यह पद्य ध्वनिकाव्य का उदाहरण नहीं बन सकेगा। क्योंकि चनदनच्यवनादि को सम्भोग मात्रजन्य कहने से वाच्यार्थ स्वयं में असिद्ध हो जायेगा, स्नानादि के साथ उनका अन्वय न हो पाने के कारण वाच्यार्थ की सिद्धि तभी होगी जब सम्भोग रूप व्यंग्यार्थ का बोध होगा और ऐसी स्थिति में व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की सिद्धि का अंग बन जायेगा और यह पद्य वाच्य सिद्ध्यंगगुणीभूत व्यंग्य का उदाहरण बन जायेगा।

१. भम् धम्मिअ! विसत्थो सो सुणओ अंज्ज मारिओ देण।
गोलाणइकच्छ निकुडंवासिणा दरिअसीहेण।। ''रसगंगाधर'' पृ० १३

अत: दीक्षित की व्याख्या प्राचीन आलंकारिकों के विपरीत होने तथा अभीष्ट सिद्धि के प्रतिकूल होने से उचित नहीं है।

समीक्षोपरान्त यह तथ्य उभर कर आता है कि पंडितराज ने ध्वनिकाव्य के उदाहरण रूप में वर्णित इस श्लोक के अर्थ का ही प्रत्याख्यान करते हुए अर्थ ही बदल दिया है। जहाँ तक 'अधम' शब्द की बात है इसका अर्थ हीन है और यह हीनता दो प्रकार की हो सकती है। एक जाति से, दूसरी कर्म से। फिर उत्तम नायिका अपने नायक को जाति से ही न तो कह नहीं सकती, रही कर्म की बात तो वह दूती का संभोग ही सिद्ध होता है, नायिका ने नायक द्वारा किये गये अपराधों का स्मरण करके ही ऐसा कहा है।

पण्डितराज के मतानुसार अधम पद से संभोग के व्यञ्जित होकर वाच्यार्थ का उपस्कारक हो जाने से ही इस पद्य में गुणभूतव्यंग्य माना है किन्तु कोई भी काव्य गणीभूतव्यंग्य का तभी विषय बनता है जब उसमें व्यंग्यार्थ से उपस्कृत होकर वाच्यार्थ में ही रस की विश्रान्ति हो, किन्तु जहाँ एक व्यंग्यार्थ से उपस्कृत वाच्यार्थ किसी दूसरे व्यंग्यार्थ का बोध कराता है वहाँ ध्वनिकाव्य का विषय उपस्थित हो जाता है, यहाँ दूती और नायक के बीच सम्पन्न संभोग का सूचक अधम पद नहीं है अपितु यहाँ नायिका का नायक और दूती की के प्रति क्रोधित होना भी अभिव्यंजित हो रहा है।

दूसरी महत्वपूर्ण प्रामाणिक बात यह है कि मम्मटाचार्य के अनुसार वाच्य चमत्कार की अपेक्षा से गुणीभूतव्यंग्य चमत्कार कहीं समकक्ष और कहीं न्यून होता हो तो वहाँ गुणीभूतव्यंग्य का अवसर उपस्थित होता है, किन्तु यहाँ पर व्यंग्य चमत्कार न तो न्यून है और न समकक्ष है।

अत: मम्मटादि प्रामाणिक आचार्यों के गुणीभूतव्यंग्य के प्रमुख भेदों में से भी यहाँ कोई भेद न होने से गुणीभूतव्यंग्य का कोई अवसर ही नहीं है।[१]

अत: पण्डितराज का किया गया खण्डन खींचातान के अलावा और कुछ नहीं है।

१. अगूढ़मपरस्याङ्गं वाच्यसिद्धयङ्गमस्फुटम्।
सन्दिग्धतुल्यप्राधान्ये काक्वाक्षिप्तमसुन्दरम्।।''
व्यङ्ग्यमेव गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याष्टौ भिदा: स्मृता:।। -काव्यप्रकाश ५।४५-४६

उपर्युक्त प्रसंग के अनुसंधान के विषय में भी पण्डितराज इस बात से सहमत हैं कि पूर्व-वासनावासित अन्त:करण वाले सहृदयों को ही यह अनुभूति हो सकती है, सभी को नहीं।[१]

फिर भी जल्पवाद का आश्रय लेकर दीक्षित मत की समीक्षा पण्डितराज के तत्कालीन जाति बहिष्कार स्वरूप उत्पन्न मानव दुर्बलता का ही द्योतक है। किन्तु कोमलकान्तपदावली, रचनाकुशल सूक्ष्मातिसूक्ष्म अर्थ के उपस्थापन में दक्ष पण्डितराज का साहित्यशास्त्र में अन्वर्थ नाम सार्थक ही है।

चित्रमीमांसाकार श्रीमदप्पयदीक्षिताचार्य द्वारा मध्यम काव्य के रूप में यह पद्य दिया गया है- किन्तु पद्य को देने के पूर्व मध्यम काव्य या गुणीभूत व्यंग्य काव्य का लक्षण क्या है ? इस पर ध्यान देना ही उचित होगा।

''यत्र व्यङ्ग्य वाच्ययानतिशायि तद्गुणीभूत व्यंग्यम्''[२] जहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से उत्कृष्ट न हो वहाँ गुणीभूत होता है जैसे-

प्रहरविरतौ मध्ये वाह्नस्ततोऽपि परेऽथवा
किमुत सकले याते वाह्नि प्रियत्वमिहेष्यसि।
इति दिनशतप्राप्यं देशं प्रियस्य यियासतो।
हरति गमनं बालालापैः सवाष्पगलज्जलैः।।[३]

''एक पहर उपरान्त या मध्याह्न में या अपराह्न में या पूरा दिन बीत जाने पर प्रिय ! तुम लौट आओगे न, इस तरह कहती हुई प्रिया जहाँ पहुँचने में सौ दिन लग जाते हैं उस दूर देश में जाने को उद्यत प्रिय की यात्रा को आँसू बहाकर रोक रही है।''

यहाँ इस पद्य का वाक्यार्थ नायिका द्वारा अपने मार्मिक वचनों से तथा

१. न जायते तदास्वादो बिना रत्यादिवासनाम् सा०द० ३।८ का० वासनाचेदानीन्तनी प्राक्तनी च रसास्वादहेतुः तत्रादौ न स्यात्तदा श्रोत्रियजरन्मीमांसकादीनामपित स स्यात्। यदि द्वितीया न स्यात् तदा यद्रागिनामपि केषाञ्चिद्रसोद्बोधो न दृश्यते तन्न स्यात्। उक्तचधर्मदत्तेन सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादेनं भवेत्। निर्वासनान्तु रङ्गान्तः काष्ठकुड्याश्मसन्निभा:।। सा० दर्पण ३।८ वृ०

२. चित्रमीमांसा, पृ० ३२

३. वही, पृ० ३४

आँसुओं द्वारा अपने प्रिय की यात्रा को रोकना है और इसके लिए समय सीमा पूरा दिन है कि इसके बाद भी यदि तुम नहीं आये तो मेरे प्राण चले जायेंगे। यह व्यंग्यार्थ है जो कि वाक्यार्थ प्रियगमन विरोध का उपस्कारक है, अत: यहाँ गुणीभूत व्यंग्य है।

गुणीभूत व्यंग्य के इस अवसर पर पण्डितराज जगन्नाथ को आपत्ति है। प्रथमत: उनके अनुसार यहाँ विप्रलम्भ शृंगार रूप असंलक्ष्यक्रम ध्वनिकाव्य है, क्योंकि वह पद्य के वाच्यार्थ से उत्कृष्ट है, किन्तु यहाँ पर विप्रलम्भ शृंगार न तो घटित हुआ है और न अभी घटित होगा। जैसा कि हरति से स्पष्ट है।

दूसरी बात पण्डितराज के अनुसार ''साश्रुनयन उस बाला के कथन से'' क्या तुम एक पहर के बाद लौट आओगे ? प्रियगमन निषेध रूप वाच्य की सिद्धि हो जाती है अत: व्यंग्य के गौण होकर उसे सिद्ध होने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है। आलापै:, इस तृतीयान्त से भी जाने की निवारण की साधकता ही प्रकट हो रही है। पण्डितराज जगन्नाथ ने उसके बाद न जी सकूँगी। इस व्यंग्य को वाच्य सिद्धि का अंग मानकर गौण समझ लिया है पर नायक आदि विभाव, अश्रु, अनुभाव, चित्त के आवेग को संचारी भाव मानकर उसके संयोग से ध्वनित होने वाले विप्रलम्भ शृंगार के कारण इसे ध्वनि काव्य कहा है किन्तु यह सम्भव नहीं है क्योंकि सहृदयों के मानस पटल पर आलंकारिक मतानुसार यही तत्व सबसे पहले आता है कि ध्वनि काव्य में आन्तरिक व्यंग्य को ग्रहण करके उत्तमोत्तमता स्वीकार नहीं की जा सकती है।

वस्तुत: प्रियालाप से नायिका का मुग्धत्व सिद्ध होता है और तादृश आलापों से नायक का चिरकालिक प्रवास रोकना भी एक उद्देश्य है। पार्यन्तिक व्यंग्य को लेकर उत्तमोत्तमता स्वीकार की जाती है न कि आन्तरिकता को लेकर। दीक्षित ने आन्तरिक व्यंग्य को ग्रहण करके गुणीभूत व्यंग्य का प्रतिपादन किया है। आन्तरालिक व्यंग्य को लेकर उत्तमोत्तमता स्वीकार किये जाने पर काव्य प्रकाशकार का यह लक्षणोदाहरण अनुचित हो जायेगा-

ग्रामतरुणं तरुण्या: नवमंजुलमंज्जरीसनाथकरम्।
पश्यन्त्या भवतिमुहर्नितरां मलिना मुखच्छाया।। -का०प्र० १।३

इस पर टिप्पणी करते हुए डॉ० गुज्जेश्वर चौधरी ने अपनी तलस्पर्शिनी समीक्षात्मक पुस्तक ''पण्डितराजकृताप्पयदीक्षित समीक्षा विवेचनम् में इस तरह से कहा है ''तत्रापि व्यंग्यसंकेतभंगेन वाच्यमुखमालिन्यातिशयरूपानुभाव-मुखेनैव विप्रलम्भाभासपोषणम् न केवलम् संकेतभंगेन।''

यह सिद्धान्त रुचिकर तो तब होता जब इसे पण्डितराज स्वयंमेव स्वीकार करते किन्तु काव्यलक्षण के प्रसंग में विश्वनाथ सम्मत काव्य लक्षण के खण्डन के अवसर पर आन्तरालिक व्यंग्य की प्रधानता को स्वीकार करने में क्यों उन्होंने स्वयं की ही युक्तियों से उसका निरसन कर दिया है।[१]

अत: अप्पय दीक्षित का ही मत समीचीन है। पण्डितराज का ''खण्डन'' प्रौढ़ता वाद का प्रभाव है ऐसा मानना चाहिए। अलंकारों की समीक्षा करने के पूर्व दीक्षित एवं पण्डितराज के मतभेद स्थलों की समीक्षा करना समीचीन ही नहीं अपितु विषय की दृष्टि से अत्यावश्यक भी है। दीक्षित ने आचार्य मम्मट की तरह काव्य के तीन भेद स्वीकार किये हैं-

१. ध्वनिकाव्य - इसमें व्यंग्यार्थ की प्रधानता होती है।

२. गुणीभूत व्यंग्य काव्य- इसमें व्यंग्यार्थ गौण होता है।

३. चित्रकाव्य- इसमें व्यंग्यार्थ होता ही नहीं और यदि होता भी है तो वह स्फुट नहीं होता है। यहाँ पर व्यंग्य के अभाव की पूर्ति गुण औरअलंकार से होती है और इस काव्य के चमत्कार का यही उपादान कारण है।

दीक्षित ने चित्रकाव्य के तीन भेद स्वीकार किये हैं-

१. शब्दचित्र- इसमें शब्दालंकारों की प्रधानता होती है। प्राचीनाचार्यों की भाँति दीक्षित ने भी शब्दचित्र को कोई महत्व नहीं दिया है। शब्दचित्र की नीरसता के कारण व्यंग्ययुत होने पर भी अनुप्रास मात्र की विशेषता के कारण रस एवं ध्वनि के धनी मर्मग्यजन इसे अत्यन्त आदर की दृष्टि से नहीं देखते हैं।

२. अर्थचित्र- इसमें अर्थालंकारों की प्रधानता रहती है, यही इस काव्य का वैशिष्ट्य है।

---

१. ''न तत्रापि कथञ्चित्परम्परया रसस्पर्शोऽस्त्यैवेति वाच्यम् ईदृशरसस्पर्शस्यं गौश्चलति, मृगोधावति इत्यादावति प्रसक्तत्वेन प्रयोजकत्वात्'' -रसगंगाधर१, काव्यलक्षण, पृ०७

३. उभयचित्र- जहाँ शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों हो वहाँ उभयचित्र काव्य कहा जाता है।

मम्मट ने उभयचित्र को नहीं माना है, इनके अनुसार चित्र काव्य के केवल दो ही भेद हैं। शब्दचित्र और अर्थचित्र। व्यंग्यहीन होने के कारण चित्रकाव्य अधम भी है।[१]

विश्वनाथ चित्रकाव्य को नहीं मानते हैं।[२] काव्य में विश्वनाथ के चित्रकाव्य विरोधी विचारों की मान्यता नहीं है। दूसरी ओर ध्वनिवादी आचार्यों ने भी जिनमें ध्वनिकार आनन्दवर्धन[३] तथा पण्डितराज जगन्नाथ[४] प्रमुख हैं। व्यंग्य के अभाव में भी अलंकारघटित चित्रकाव्य को मान्यता दी है।

अलंकारवादी आचार्य दीक्षित व्यंग्य की अपेक्षा चित्रकाव्य को किसी भी स्थिति में न्यून नहीं मानते हैं। न केवल चित्र काव्य के अस्तित्व को स्वीकार किया बल्कि उसके महत्व को भी स्वीकार किया इतना सब होने के बाद भी दीक्षित जी शब्दालंकारों को उन पर आधारित शब्द चित्रों को नीरस और हेय समझते हैं।[५] चित्रमीमांसा के सन्दर्भ में हम चित्रकाव्य के उपस्कारक प्रमुख अलंकारों का ही विवेचन करेंगे वे अलंकार १२ हैं-

१. उपमा, २. उपमेयोपमा, ३. अनन्वय, ४. स्मरण, ५. रूपक, ६. परिणाम, ७. सन्देह, ८. भ्रान्तिमान्, ९. उल्लेख, १०. अपह्नुति, ११. उत्प्रेक्षा, १२. अतिशयोक्ति।

यहाँ प्रसंगत: प्राप्त अलंकारों की विवेचना करने के पूर्व अलंकार क्या है, अलंकारों का क्रमिक विकास कैसे हुआ ? विभिन्न अलंकारवादी आचार्यों

१. शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम् -काव्यप्रकाश १।४

२. साहित्यदर्पण ४।१५५

३. प्रधानगुणभावाभ्यां व्यंग्यस्यैवं व्यवस्थिते।
उभेकाव्ये तदन्यद् यत्तच्चित्रंमभिधीयते।। ध्वन्यालोक ३-६८

४. रसगंगाधर-१, पृ० ७२-७५

५. शब्दचित्रस्य प्रायो नीरसत्वान्नात्यन्तं तदाद्रियन्ते कवय:, न वा तत्र विचारणीयमतीवोपलभ्यत इति शब्दचित्रांशमपहायार्थ चित्रमीमांसा प्रसन्नविस्तीर्णा प्रस्तूयते।।-चित्रमीमांसा, पृ०४०

के मत में अलंकार कितने हैं ? अलंकारों की विभिन्नता का मूल क्या है ? अलंकारों का विभाग कैसे हुआ ? अलंकारों की परस्पर विभिन्नता का कारण क्या है इत्यादि पर भी विचार कर लेना अप्रासंगिक नहीं होगा, अपितु विषय को समझने में आसानी होगी। ''काव्यशोभाकरानधर्मान्''[१] से काव्य के सौन्दर्याधायक तत्व ही अलंकार हैं। अलंकार के सर्वानुगत सामान्य लक्षण के प्रसंग में प्राय: आचार्य भरत, भामह इत्यादि ने भी कुछ नहीं लिखा।

वामन ने ''काव्यशोभाया: कर्तारोधर्मा गुणा:'' कहकर दण्डी के दिये गये लक्षण से वैमत्य स्थापित कर दिया। कालान्तर में उद्भट एवं रुद्रट ने भी कोई सामान्य लक्षण नहीं लिखा। काव्यावतार आचार्य मम्मट ने अलंकार का लक्षण प्रस्तुत करते हुए लिखा कि-

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादय:।। -काव्यप्रकाश

इसकी व्याख्या प्रदीपकार ने करते हुए लिखा-

''तथा च रसोपकारकत्वे सति तदवृत्तित्वं तथात्वे सति रसव्यभिचारित्वं, अनियमेन रसोपराकत्वं चेति सामान्य लक्षणत्रयमलंकाराणाम्।''

अर्थात् रसोपकारक होते हुए भी रस में नहीं रहने वाला, रसोपकारक होता हुआ भी नियम से रस का सहवर्ती न होने वाला, नियम से रसोपकारक न होने वाला यह तीन लक्षण सामान्य अलंकार के हैं। किन्तु ये तीनों ही लक्षण अतिव्याप्त दोष से ग्रस्त हैं। यथा प्रथम लक्षण की अतिव्याप्ति रस के आलम्बन विभावों में है। दूसरे लक्षण की अतिव्याप्ति रस के उद्दीपन विभाओं में हैं एवं तृतीय लक्षण की अतिव्याप्ति कलश एवं खंजनादि में हैं। आचार्य द्वारा उपस्कुर्वन्ति के स्थान पर उपकुर्वन्ति लिखना भी महान् आश्चर्य का द्योतक है। अत: यह भी अलंकार का सामान्य लक्षण नहीं हुआ। इसका सामान्य लक्षण करते हुए एक स्थान पर कहा गया कि-

''अपरांगीभूतरसभावादिभिन्नव्यंग्यभिन्नत्वे सति अनुप्रासोपमादि विशिष्ट-शब्दार्थान्यतरनिष्ठा या समवायसम्बन्धावच्छिन्नचमत्कारनिष्ठकार्यतानिरूपित-

१. ''काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते''। दण्डी-काव्यादर्श

समवायसम्बन्धावच्छिन्नतादृशज्ञाननिष्ठकारकतानिरूपितविषयित्वसम्बन्धवच्छिन्ना-वच्छेदकतातन्निरूपितालंकारीयस्वरूपसम्बन्धावच्छिन्नावच्छेदकत्वमलंकारत्वम्।।''

अर्थात् अपरांगीभूत जो रसभावादि, उससे भिन्न जो व्यंग्य उपमादि उससे भिन्न होता हुआ, अनुप्रासादि विशिष्ट शब्द या उपमादि विशिष्ट अर्थ दोनों में से किसी एक में रहने वाली समवाय सम्बन्ध से अवच्छिन्न हुई जो चमत्कारनिष्ठ कार्यता, उससे निरूपित जो समवाय सम्बन्ध से अवच्छिन्न हुई अनुप्रासादि या उपमादि से युक्त शब्द या अर्थ के ज्ञान में रहने वाली कारणता, उससे निरूपित की गई जो विषयिता सम्बन्ध से अवच्छिन्न हुई, चमत्कारजनकतावच्छेदकता, उसका जो अलंकारीय स्वरूप सम्बन्ध से अवच्छेदक हो वह अनुप्रासादि या उपमादि अलंकार है।

जहाँ तक अलंकारों के विकास का प्रश्न है, वह संसार की सर्वप्रथम पवित्र पुस्तक ऋग्वेद की ऋचाओं में प्रचुर रूप में विद्यमान है। निरुक्तकार यास्क की महिमा से प्राचीन निरुक्तकार गार्ग्य का नाम उपमा के लक्षणकार के रूप में हमारे सम्मुख आता है उपमा का सामान्य लक्षण 'यद्वैतत् तत्सदृशं भवति' यथा अग्निरिव खद्योत: यह उदाहरण दिया है। अप्रसिद्ध गुणवाले व्यक्ति का प्रसिद्ध गुण वाले व्यक्ति के द्वारा गुणों का प्रकाशन ही उपमा है यथा माणवकोऽयं सिंह:।

वैदिक ऋचाओं में अलंकारों का उदाहरण-

तद्विष्णो: परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरय: दिवीवं चक्षुराततम्। ऋक् १।१२।२०

सिंहा इव ना नदन्ति प्रवेतस: पिशा इव सुप्पिश: विश्ववेदस:।। ऋक् १।६४।८

शन्नों देवीरभीष्टये शन्नों भवतु प्रीतये। शंयोरभिस्रवन्तुन:।। साम० १।३३

आत्मानं रथिनं विद्धि, शरीरं रथमेव तु। कठो० १।३

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

तयोरेक: पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्योऽभिचाकषति। मुण्ड० ३।१।१

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बहवी: प्रजा: सृजमानां सरूपा:।

अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोन्य:।। श्वेता ४।५

वाग्वैतेज:। शतपथब्राह्मण।

इस तरह हम देखते हैं कि वेद अलंकारों से भरे पड़े हैं। उसके बाद लोक में भी अन्य ग्रन्थों के अप्राप्त होने के कारण भरतमुनि प्रथम प्रामाणिक आचार्य हैं। इन्होंने नाट्यशास्त्र में मात्र उपमा, रूपक, दीपक और यमक ये चार अलंकार ही लिखे हैं। अग्निपुराण में १६ अलंकार, विष्णु धर्मोत्तर उपपुराण में १८ अलंकार, भट्टिकाव्य में ३८ अलंकार, भामह ने ३८, दण्डी ने ३७, वामन ने ३१, उद्भट ने ४१, रूद्रट ने मिश्रित अलंकारों की संख्या ७३, महाराज भोज ने कुल ७२, आचार्य मम्मट ने ७४, रूय्यक ने ८२, वाग्भट प्रथम ने ३९, हेमचन्द्र ने ३५, पीयूषवर्ष जयदेव ने ९०, विद्याधर ने ८६, विद्यानाथ ने ७४, द्वितीय वाग्भट ने ६८, विश्वनाथ ने ८४, नरेन्द्रप्रभसूरि ने ७४, भावदेव सूरि ने ५७, आचार्य जिनसेन ने ७६, श्री विश्वेश्वर पण्डित ने ६१, श्रीकृष्ण ब्रह्मतन्त्र परकाल ने १०४, अप्पय दीक्षित ने ११७, श्रीशोभाकर मित्र ने १०६, पण्डितराज जगन्नाथ ने ७०, गोस्वामी कर्णपूर ने ७२, केशवमिश्र ने २२, विद्याभूषण ने ८६, अच्युतराम ने १०२, भट्टदेवशंकर ने ११५, अलंकारों की चर्चा की है।

इस तरह अलंकारों की इयत्ता निश्चित कर पाना सरल नहीं है। वैदिक ऋषियों ने तो इतने अलंकार बतलाये हैं कि उतने लौकिक काव्यशास्त्रियों ने नामकरण भी नहीं किये हैं। कुवलयानन्दकार अप्पयदीक्षित ने अलंकारों की संख्या ११७ बतलायी है जो कि सर्वाधिक है। शोभाकर के आविष्कृत नितान्त नये अलंकारों को मिला दें तो कुल अलंकार ११७+३८= १५५ हो जाते हैं।

वस्तुत: जैसे राजा प्रमदादि दोषों से रहित है और न्याय पुर:सर शासन करने की योग्यता भी रखता है किन्तु उसका राजभाव विकसित होता है सेना वगैरह उपकरणों से ही ठीक उसी तरह काव्य की भी स्थिति होती है, काव्य दोषों से रहित एवं गुणों से युक्त भले हों किन्तु विलक्षण सुषमा उसमें अलंकारों से ही आती है। इसी तरह ''न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्'' से भी अलंकारों की महत्ता स्वयमेव स्पष्ट है। काव्य के अलंकारों की विभिन्नता का मूल ढूँढ़ने हेतु हमें काव्य के स्वरूप पर विचार करना होगा। शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं तथा ध्वनि को काव्य की आत्मा कहा है ''काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्य:'' ध्वन्यालोक शब्दों में

पहली ध्वनि है, ध्वनि में अतिशय उसका विचार ही है, इसी के कारण वक्ता कभी शोकापन्न, प्रसन्न, दीन एवं व्याकुल दिखायी पड़ता है जिसका नाम काकु है। अतः काकु वक्रोक्ति यह नाम काव्यप्रकाशकार ने ध्वन्याश्रित अलंकार का किया है।

ध्वनि के बाद वर्ण है। आनुपूर्वी वाले वर्णों का पुनः पुनः उच्चारण किया जाय तो उनमें एकरूप समता होने से चमत्कार होता है। वर्ण में समतारूप अतिशय है इसे ही ''वर्ण साम्यमनुप्रास:'' कहा है। इसी प्रकार ''भिन्ना अपि शब्दाः भिन्नंस्वरूपमपह्नुवते स श्लेषः'' इस तरह उत्तरोत्तर अलंकार का विशदीकरण होता चला गया।

अब प्रसंग प्राप्त चित्रमीमांसा के अन्तर्गत अलंकारों का निम्न विभाजन हो सकता है जो कि प्रायः सभी को मान्य है-

१. सादृश्यमूलक भेदाभेदप्रधान अलंकार यथा- उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय, स्मरण।

२. आरोपमूलक अभेद प्रधान अलंकार यथा- रूपक, अपह्नुति, ससंदेह, भ्रान्तिमान्, परिणाम्।

३. अध्यवसायमूलक अलंकार यथा- उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति।

अब अलंकारों की परस्पर विभिन्नता के कारण पर विहंगम दृष्टि रखना अनुचित होगा।

१. परिणाम एवं रूपक दोनों आरोपगर्भित हैं, किन्तु परिणाम में जहाँ आरोप्यमाण जिसका आरोप करते हैं वह चंद्रादि प्रकृति का उपयोगी होता है और रूपक में वह उपयोगी नहीं होता है यही इन दोनों में भेद है।

२. उल्लेख एवं रूपक दोनों में आरोप होता है किन्तु उल्लेख एवं रूपक में अन्तर यह है कि उल्लेख में आरोप का विषय जिसके ऊपर आरोप करते हैं उसमें आरोप्य के रूप का स्वभाव सम्भव है और रूपक में वह स्वभाव या स्वरूप सम्भव नहीं है।

३. आरोप के विषय में सन्देह करना या भ्रान्ति होना एवं अपह्नव करना सन्देह, भ्रान्तिमान् एवं अपह्नुति का परस्पर में भेदक है।

४. उपमा, अनन्वय एवं उपमेयोपमा में साधर्म्य वाच्य है। सादृश्यमूलकता दोनों में बराबर है।

५. उपमा में उपमान लोकप्रसिद्ध होता है, उत्प्रेक्षा में वह अप्रसिद्ध होता है, यही इन दोनों में भेद है।

६. उपमा में उपमान एवं उपमेय स्वतः भिन्न है, अनन्वय में वे भेद की कल्पना से भिन्न है, यही इनके भेद का कारण है।

७. उपमा में उपमानोपमेव भाव युगपत् एक काल में होता है और उपमेयोपमा में वह भावपर्याय से होता है, यही इनका भेदक है।

इस तरह अलंकार इतने ही हैं। ऐसा कह पाना बड़ा ही कठिन है। आचार्य दण्डी ने तो कहा है कि ''कस्तान् कात्स्र्येन वक्ष्यति'' कौन ऐसा है जो कि उन अलंकारों को सम्पूर्णतया कह सकता है ? अब आगे के अध्यायों में एक-एक अलंकार की चित्रमीमांसा के प्रसंग में दीक्षित एवं पण्डितराज के अनुसार अन्यों को भी ध्यान में रखते हुए समीक्षा करना प्रस्तुत ग्रन्थ के विषय में प्रसंगतः प्राप्त है जो कि आगे क्रमशः कहा जायेगा।

❖

पंचम अध्याय

सादृश्यमूलक अलंकारों की समीक्षा

उपमालंकार

साहित्यशास्त्र में उपमा का सर्वोत्कृष्ट स्थान सभी के द्वारा स्वीकार किया गया है। इसके बिना काव्य में काव्यत्व को ही अस्वीकार करना पड़ेगा।[१]

उपमा सभी साधर्म्यमूलक अलंकारों का आधार है। अप्पय दीक्षित ने तो इसे एक नर्तकी कहा है जो विविध अलंकार भूमिका में काव्य मंच पर आकर रसिकों को रंजित करती है।[२]

शास्त्र में अलंकारों की संख्या इतनी ही है ऐसा कोई निश्चित और नियामक तत्व नहीं है। ध्वन्यालोककार के मत में अनेक अलंकार अब तक प्रकाशित हो चुके हैं और प्रकाशित हो रहे हैं।[३] कहने का अभिप्राय यह है कि जैसे किसी रमणी के कमनीय काया में आभूषणों की कोई इयत्ता नहीं है उसी तरह आभूषणों की भाँति अलंकारों की भी कोई सीमा नहीं है। इतना सब कुछ होते हुए भी वाग्वैशद्य काव्यविदों द्वारा सुकुमार शिष्यों के बुद्धिवर्द्धनार्थ अनेक अलंकार एवं उनके भेद बताये गये हैं। इन सबके बीच में उपमालंकार का लक्षण भेद-प्रभेद वैदिक काल से लेकर नाट्याचार्य भरतमुनि द्वारा भी प्रदर्शित किया गया है। भरतमुनि ने चार अलंकारों के मध्य में उपमा अलंकार को प्रथम स्थान दिया है।[४] उपमा अलंकार के आश्रय

१. काव्यं ग्राह्यमलंकारात् -काव्य०सू०सू० १
२. उपमैका शैलूषी संप्राप्ता चित्रभूमिकाभेदान्।
रंजयति काव्यरंगे, नृत्यन्ती तद्विदां चेत:।। -चित्रमीमांसा ४१
३. किं च वाग्विकल्पानामानन्त्यात्सम्भवत्यपि - सहस्रशो हि महात्मभिरन्यैरलंकारप्रकारा: प्रकाशिता प्रकाश्यन्ते च। -ध्वन्यालोक १।१ का० वृत्ति:।
४. उपमादीपकंचैव रूपकं यमकं तथा।
काव्यस्यैते अलंकाराश्चत्वार: परिकीर्तिता:।।
अलंकारास्तु विज्ञेयाश्चत्वारो नाटकाश्रया:।। -नाट्यशास्त्र १७।४३

से ही कविकुलगुरुकालिदास साहित्याकाश में उज्ज्वल नक्षत्र के रूप में हो गये।[१]

उपमा शब्द का पर्यायवाची अर्थ है- तुल्यता, समानता या सादृश्य। व्युत्पत्ति की दृष्टि से भी ''उप सामीप्यात् मानम् इत्युपमा'' अर्थात् सामीप्य या सानिध्य के कारण किये गये मान (तुलना) को उपमा कहते हैं। अर्थात् किसी एक वस्तु का दूसरी वस्तु के साथ तुलना ही उपमा है। यही कारण है कि आलंकारिकों ने सादृश्यमूलक अलंकार के अन्तर्गत उपमा अलंकार को प्रश्रय दिया है। दो पदार्थों के बीच समानता के कारण सहृदयों के हृदय में जो सौन्दर्यजन्य आनन्दानुभूति है उसी की तो प्रधानता है।

अत: उपमा का प्राण सादृश्य है। कुछ लोगों ने साधर्म्य को इसका प्राण माना है। उद्योतकार ने इसकी भिन्नता स्पष्ट रूप से स्वीकृत की है-

''सादृश्यं च साधारणधर्मप्रयोज्यो धर्मविशेष:'' अर्थात् दो पदार्थों अर्थात् उपमान और उपमेय का परस्पर जो सादृश्य है वह उनका एक विशेष धर्म है, जो उनमें अनुगत उनके साधारण धर्म के कारण हुआ करता है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने सौन्दर्य को ही अलंकार मान लिया तथा उनकी इस बात का वामन ने भी समर्थन किया है। इसकी इसी लोकप्रियता के कारण ही दीक्षित का यह कथन युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि उपमा वह नटी है जो काव्य रूपी रंगभूमि में चित्रभूमिका भेद से विविध रूपों में सहृदयों के हृदय का रंजन करती है।

कुछ लोग उपमान और उपमेय के सादृश्य को लेकर उपमा का लक्षण करते हैं तो कुछ उपमान और उपमेय के साम्य को तथा दूसरे लोग साधर्म्य को लेकर उपमा का लक्षण करते हैं। प्रथम वर्ग में अग्निपुराण, गार्ग्य, भरत[२], दण्डी, शोभाकर मित्र, वाग्भट प्रथम, जयदेव, अप्पय-

१. उपमाकालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिन: पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणा:।। -नैषधी० पृ०
२. यत्किंचित् काव्यवन्धेषु सादृश्येनोपमीयते।
उपमा नाम विज्ञेया गुणाकृति समाश्रया।। ना०शा० १७।४४
निरूप्यमाणं कविना सादृश्यं स्वात्मनो न चेत्।।
प्रतिषेधमुपादाय पर्यवस्यति सोपमा।। चि०मी०, पृ० ७४
उपमितिक्रिया निष्पत्तिमत्सादृश्यवर्णनमुपमा।
स्वनिषेधां पर्यवसायि सादृश्यवर्णनमुपमा।। चि०मी०, पृ० ७४

दीक्षित[1] और पण्डितराजजगन्नाथ[2] आदि अलंकार शास्त्रियों के नाम उल्लेखनीय है।

दूसरे वर्ग में भामह, वामन, कुन्तक, विद्यानाथ, वाग्भट द्वितीय और विश्वनाथ आदि आलंकारिक है। इन लोगों ने साम्य को लेकर उपमा का लक्षण किया है।

तीसरे वर्ग में उद्‌भट, मम्मट, रूय्यक, नरेन्द्रप्रभसूरि, हेमचन्द्र, श्रीवत्सलांछन, विद्याधर और केशव मिश्र आदि आलंकारिकों के नाम उल्लेखनीय हैं। इन लोगों ने साधर्म्य को लेकर उपमा का लक्षण किया है।

उपमालंकार के चार अंग होते हैं- उपमान, उपमेय, साधारण धर्म और वाचक। वाचक को उपमा प्रतिपादक शब्द भी कहा जाता है। कवि उपमालंकार का प्रतिपादन करते समय किन्हीं ऐसे दो पदार्थों का चयन करता है जिनका कोई धर्म या तो उन दोनों में साधारण धर्म रहता है या किसी धर्म के आधार पर उनमें साधर्म्य या सादृश्य का विधान कर लिया जाता है। इनमें से एक पदार्थ साधारणधर्म वाला होने से प्रसिद्ध होता है और इसी प्रसिद्ध साधारण धर्म को उपमान कहा जाता है।[3]

जैसे चन्द्रमा मनोज्ञत्व की दृष्टि से प्रसिद्ध है। इसी के साथ मुख उपमित होता है। अत: चन्द्रमा उपमान है। इसका अप्रस्तुत, अप्राकरणिक, अप्रकृत, अवर्ण्य आदि नामों से भी बोध किया जाता है। कवि जिस इष्ट पदार्थ का वर्णन करना चाहता है वह उपमेय है, जैसे मुख। उपमेय को प्रस्तुत, प्राकरणिक, वर्ण्य या प्रकृत आदि नामों से भी जाना जाता है।

वामन के मतानुसार उपमान को उत्कृष्ट गुण वाला एवं उपमेय को न्यूनगुण वाला होना चाहिए।[4] नागेशभट्ट जैसे उद्‌भट विद्वान् इन दोनों में

---

१. सादृश्यं सुन्दरं वाक्यार्थोपस्कारकमुपमालंकृति:। -रसगंगाधर० आ० २, पृ० २०४

२. विरुद्धेनोपमानेन देशकालक्रियादिभि:।
उपमेयस्य यत्साम्यं गुणलेशेन सोपमा।। -का० २।३

३. साधारणधर्मवत्त्वेन प्रसिद्ध: पदार्थ: उपमानम्, तद्धर्मवत्तया वर्णनीय: पदार्थ: उपमेयम्। बा०बो०व्या०, काव्यप्रकाश उ० १०, पृ० ५४५

४. उपमीयते सादृश्यमानीयते येनोत्कृष्टगुणेनान्यत् तदुपमानम्, यदुपमीयते न्यूनगुणं तदुपमेयम्। का०सू० बृ०, पृ० १८६

परिच्छेद्य-परिच्छेदक भाव स्वीकार करते हैं।[1] वामनाचार्य झलकीकर उपमान को कर्ता तथा उपमेय को कर्म स्वीकार करते हैं। उपमा में उपमान हमेशा प्रसिद्ध पदार्थ ही हो ऐसी बात नहीं है, अपितु वह कवि कल्पित भी हो सकता है। भरत, भामह, अप्पय दीक्षित और पण्डितराज जगन्नाथ प्रमुख विद्वानों का यही मत है। ये आलंकारिक उपमान के साथ उपमेय का सादृश्य होने पर उपमालंकार मानते हैं और उपमान के साथ उपमेय के तादात्म्यादि की सम्भावना होने पर उत्प्रेक्षा स्वीकार करते हैं।

नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरतमुनि के अनुसार उपमेय में उपमान कवि कल्पित भी हो सकता है जैसे-

क्षारन्तो दानसलिलं लीलामन्थरगामिन:।
मतंगजा विराजन्ते जंगमा इव पर्वता:।।[2]

किन्तु मेरे विचार से इसे उत्प्रेक्षानुप्राणित उपमा कहने पर कोई बुराई नहीं है क्योंकि पर्वत प्रसिद्ध वस्तु होने से उपमान है और उसमें चलनक्रिया सम्भावित है। उत्प्रेक्षा साधन है और उपमा साध्य। वामनाचार्य का भी यही मत है।[3]

अप्पय दीक्षित के मतानुसार उपमान कवि कल्पित भी रह सकता है। जैसे-

पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यान्मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम्।
ततोऽनुकुर्याद् विशदस्य तस्यास्तामौष्ठ पर्यस्तरुच: स्मितस्य।।

प्रकृतस्थल में नूतन पल्लव पर रखा पुष्प और मूंगा पर रखा मुक्ताफल उपमान है। ये सभी कविकल्पित हैं। अत: जहाँ पर कल्पित उपमान के साथ उपमित क्रिया की निष्पत्ति होती है वहाँ कल्पितोपमा मानी जाती है।

---

१. उपमानत्वं च साधारणधर्मवत्त्वेनेषदितरपरिच्छेदकत्वम् तद्धर्मवत्तया परिच्छेद्यत्वम् चोपमेयम्। बा०बो०व्या०का० प्र० ५४४, ५४५

२. नाट्यशास्त्र, १७, ५३

३. ननुकल्पितायालोकप्रसिद्ध्यभावात्कथमुपमानोपनियम:?
गुणवाहुल्यस्योत्कर्षावकर्षकल्पनाभ्याम्।। का०सू०बृ०पृ० १८७-८८

पण्डितराज के मतानुसार उपमा में उपमान कवि कल्पित और असत्य हो सकता है। उदाहरण के लिए जैसे ''त्वयि कोपो ममाभाति सुधांशाविव पावक:'' यहाँ चन्द्रवर्ती आग उपमान है किन्तु चन्द्रमा में आग का दिखाई पड़ना असम्भव है। यहाँ इस उदाहरण में उपमान के असम्भव होने के कारण सादृश्य की स्थापना नहीं हो सकती। प्रत्युत्तर में पण्डितराज का कहना है कि कवि पूर्णत: तो नहीं किन्तु खण्डश: उपस्थित कर सकता है। अत: कोई बाधा नहीं है।[1] इसी प्रकार ''स्तनाभोगे पतन्भाति'' में उपमानभूत मेरुपर्वत, चन्द्रबिम्ब और सर्प प्रसिद्ध पदार्थ है। मेरुपर्वत पर चन्द्रबिम्ब से तो सर्प लटक नहीं सकता है। इसलिए उस पर चन्द्रबिम्ब के सहारे सर्प के लटकने रूप धर्म विशेष की कल्पना करके सर्प को उपमान बना दिया है। कल्पितोपमा में उपमान सर्वतोभावेन सत्य नहीं रहता बल्कि उसकी कल्पना करके उपमा की सिद्धि की गयी है। अत: यहाँ उत्प्रेक्षा साधन है और उपमा साध्य।

यहाँ पर प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि कल्पित सादृश्य असत्य होने के कारण चमत्कारी नहीं है। इस पर पण्डितराज का कथन है कि जिस प्रकार कल्पित कामिनी के साथ मिथ्यालिंगन से भी आनन्द पैदा होता है उसी प्रकार कल्पित सादृश्य भी चमत्कार पैदा कर सकता है। अत: यहाँ कल्पित सादृश्य असत्य होते हुए भी आनन्ददायक है। अत: इनका असत्य या कविकल्पित होना दोषजन्य नहीं है।[2]

वामनाचार्य झलकीकर के मतानुसार उपमालंकार में उपमान आदि की सत्यता, असत्यता, वाच्यता और व्यंग्यता प्रसक्ति के अनुसार हो सकती है। जैसे ''कमलमिव मुखम्'' में सौन्दर्य साधारण धर्म है और यह प्रसिद्ध है। यह शब्दोपात्त नहीं अपितु प्रतीयमान है। यहाँ पर उपमा की सिद्धि इसके प्रसिद्ध

१. कविना हि खण्डश: पदार्थोपस्थितिमता स्वेच्छया सम्भावितत्वेनाकारेण चन्द्राधिकरण-कमनलं प्रकल्प्य तेन सह साम्यस्यापि कल्पने बाधकाभावात्। रसगं० आ० २, पृ० २०५

२. कल्पितमसत्सादृश्यं कथं चमत्कारजनकमिति तु न वाच्यम्, परमसुकुमारी भवत्कनक-निर्मिताडंगया मणिमयदशनं काति निर्वासितध्वान्ताया: कान्ताया: भावंनया पुरोऽवस्थापिताया आलिंगनस्यांह्लादजनकत्वदर्शनात्। उपमानोपमेययो: सत्यत्वस्य लक्षणे प्रवेशाभावान्नात्र दोषलेशोऽपि। रसगंगा० आ० २, पृ० २०५

होने के कारण की जाती है।[1]

उपमेव एवं उपमान के सामान्य विशेष भावापन्न रहने पर अप्पय दीक्षित उपमिति क्रिया की निष्पत्ति मानते हैं। अत: उन्होंने ''अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य'' में उक्तार्थोपपादनपरा उपमा माना है। इसके विपरीत पण्डितराज जगन्नाथ सामान्य विशेषभावापन्न रहने पर उपमिति क्रिया की निष्पत्ति नहीं मानते हैं। ऐसे स्थलों पर वे उदाहरण अलंकार स्वीकार करते हैं।[2]

उपमान के साथ उपमेय के सादृश्य को बतलाने के लिए किसी साधारण धर्म की आवश्यकता होती है। यह साधारण धर्म उपमान एवं उपमेय दोनों में समानरूप से उपस्थित रहता है। जो शब्द किन्हीं दो पदार्थो का भी साधारण धर्म बतलाता है वह साधारण धर्म वाचक कहलायेगा। महाभाष्यकार ने ''उपमानानि सामान्यवचनै:'' सूत्र से इसे ही अभिहित किया है।

जो शब्द किसी भी शक्ति से साधर्म्य, सादृश्य और सादृश्य विशिष्ट में से अन्यतर का बोध कराते हैं वे उपमा वाचक कहलाते हैं। ''इव'' के अतिरिक्त यथा, वा, तुल्य और सदृश आदि अनेक शब्द ऐसे हैं जो उपमा वाचक कहलाते हैं। आचार्य दण्डी ने तो इन सबकी एक बृहद् सूची ही तैयार कर डाली है।

कुछ लोग सादृश्य और साधर्म्य में भेद मानते हैं, जबकि दूसरे लोग इनमें कोई भेद ही नहीं मानते। सादृश्य और साधर्म्य में भेद को मानने वालों को उपमा के दो भेदों श्रौती और आर्थी भेद इष्ट है। मम्मट इत्यादि विश्रुत आलंकारिकों ने इवादि शब्दों और इवार्थक वति प्रत्यय के प्रयोग में साधर्म्य को वाच्य तथा सादृश्य को अर्थगम्य स्वीकार किया है। अत: इनके प्रयोग में श्रौती उपमा होती है। तुल्यादि शब्दों और तुल्यार्थक वति का प्रयोग होने

१. उपमानादिचतुष्टयं च सदसदपि वाच्यं प्रतीयमानमपि च भवति। अतएव ''त्वयि कोपो ममाभाति सुधांशाविव पावक:'' इत्यादौ सुधांशौ पावकस्यासतोऽपि उपमानत्वसिद्धि:, ''कमलमिव मुखम्'' इत्यादौ लुप्तोपमास्थले प्रसिद्धतया साधारणधर्मस्यानुपात्तत्वेऽपि उपमासिद्धिश्चेति बोध्यम्।। बा०बो०व्या०का०प्र०पृ० ५४५

२. सामान्याद् विशेषस्य भेदाभावेनोपमितिक्रियाया अनिष्पत्त्या उपमालङ्कृतेरत्रानवतारा-दुदाहरणालङ्कारोऽयमतिरिक्त:। रसगंगा०आ०, पृ० २३९

पर सादृश्य वत् अर्थ वाच्य होता है और साधर्म्य अर्थगम्य। साधर्म्य की अर्थत: प्राप्ति होने के कारण इन स्थानों पर आर्थी उपमा होती है।

पण्डितराज सादृश्य और साधर्म्य में भेद तो मानते हैं परन्तु वह सादृश्य को उपमा कहते हैं। अत: इनके मत में इवादि का प्रयोग होने पर सादृश्य वाच्य होता है। सादृश्य के वाचक होने से इनके मत में श्रौती उपमा होती है। तुल्यादि शब्दों और तुल्यार्थक वति का प्रयोग होने पर सादृश्य वत् अर्थ वाच्य होता है और साधर्म्य अर्थगम्य। साधर्म्य की अर्थत: प्राप्ति होने के कारण इन स्थानों पर आर्थी उपमा होती है।

पण्डितराज सादृश्य और साधर्म्य में भेद तो मानते हैं परन्तु वह सादृश्य को उपमा कहते हैं। अत: इनके मत में इवादि का प्रयोग होने पर सादृश्य वाच्य होता है। सादृश्य के वाचक होने से इनके मत में श्रौती उपमा होती है। तुल्यादि का प्रयोग होने पर सादृश्यवत् अर्थवाच्य होता है। मुख्य विशेषता सादृश्य में न रहने के कारण आर्थी उपमा मानी जाती है। आलंकारिकों ने इवादि और तुल्यादि रूप में उपमा वाचक शब्दों को दो भागों में रखा है। इवादि वर्ग के शब्द जिसके बाद आते हैं उसी की उपमानता की प्रतीति होती है। अर्थात् वही शब्द उपमान होता है। ''मुखं चन्द्र इव सुन्दरम्'' में इसका प्रयोग चन्द्र के बाद हुआ है। अत: वही चन्द्र उपमान है। किन्तु इसके विपरीत तुल्यादि कहीं उपमेय में सादृश्य का बोध कराते हैं तो कहीं उपमान में और कहीं उभय पदार्थों में। अत: सादृश्य की उपपत्ति के लिए हमें साधर्म्य का अनुसंधान करना पड़ता है। यह अर्थत: प्राप्त होता है। अत: तुल्यादि का प्रयोग होने पर आर्थी उपमा मानी जाती है।

उपमा को अधिकांशत: आलंकारिकों ने अनेकालंकारों का उपजीव्य माना है। कोई भी ऐसा युग नहीं रहा जब आलंकारिकों ने इस अलंकार का प्रयोग न किया हो। वैदिक काल से लेकर आज तक का साहित्य उपमा की अप्रतिम सौन्दर्यानुभूति से भरा पड़ा है। कभी-कभी एक ही मन्त्र में चार उपमाओं का सन्निवेश मिलता है। जैसे-

अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारूगिव सनये घनानाम्।
जायेव पत्य उशती सुवासा उषासेव निरीणीते अण:।।[1]

---

१. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोएटिक्स पृ० ३२६, डॉ० पी०वी० काणे

किन्तु इन अलंकारों का लक्षण तो वेदोत्तर काल में किया गया है। सर्वप्रथम गार्ग्य और भरत ने उपमालंकार का लक्षण किया। भरत ने चार अलंकारों में से उपमा को प्रथम स्थान दिया। रूद्रट ने सर्वप्रथम अलंकारों का जो वर्गीकरण किया है वह वैज्ञानिक था।[1] राजशेखर के मत से उपमालंकार अलंकारों का शिरोमणि, काव्यलक्ष्मी का सर्वस्व और कविकुल की जन्मदात्री है। केशव मिश्र ने अपने अलंकार शेखर नामक ग्रन्थ में इसका उल्लेख किया है।[2]

रूय्यक ने कुल बीस अलंकार माने और उनमें उपमा को बीज रूप से अवस्थित रहने के कारण ''अनेकालंकारबीजभूता'' कहा है। विश्वनाथ आचार्य ने सादृश्यमूलक अलंकारों का उपमा को उपजीव्य माना है। अप्पय दीक्षित ने इसके महत्व पर विस्तार से प्रकाश डाला है। उपमा विविधालंकारों के उद्गम का स्रोत है। उपमा ही सादृश्य की भावना का थोड़ा विस्तार कर देने पर तथा उक्ति वैचित्र्य से अनेकबिधालंकारों के रूप में काव्य जगत् में अवतरित हो जाती है।[3] उपमेयोपमा, अनन्वय, व्यतिरेक, रूपक और दीपक आदि के मूल में उपमा ही अनुस्पूत रहती है। इसीलिए अप्पय दीक्षित ने उपमा को ''अनेकालंकार विवर्तवती'' कहा है।[4] अप्पय दीक्षित ने उपमा की तुलना तो ब्रह्म से कर डाली। जिस प्रकार ब्रह्म ज्ञान होने पर मायाजन्य विविध हृदयावर्जक वस्तुओं से समन्वित संसार से अपने को पृथक् कर लेता है उसी तरह उपमा का ज्ञान हो जाने पर समस्त अलंकार सुगम हो जाते हैं।[5] पण्डितराज जगन्नाथ ने उपमा को ''विपुलालंकारवर्तिनी'' कहा है।[6]

---

१. Rudrat was the first to attempt a scientific classification of figures as based upon certain definite principles, such as vastava, Aupamya, Atisaya and Slesh. P.V. Kane, History of Sanskrit poetics.

२. अलंकारशिरोरत्नं सर्वस्वं काव्यसम्पदाम्।
उपमा कविवंशस्य मातैवेति मतिर्मम।। -अलङ्कारशेखर

३. ''सैवोक्तिर्भङ्गीभेदानानेकालङ्कारभावं भजते।'' -चित्रमीमांसा, पृ० ४१-४२

४. ''एवमुक्तानेकालङ्कार निवर्तवतीयमुपमा।'' -चित्रमीमांसा, पृ० ४३

५. तदिदं चित्रं विश्वं ब्रह्मज्ञानादेवोपमाज्ञानात्
ज्ञातं भवतीत्यादौ निरुप्यते निखिलभेदसहितो सा।। -चित्रमीमांसा, पृ० ४३

६. तत्रापित विपुलालङ्कारान्तर्वर्तिन्युपमा तावद्विचार्यते। -रसगङ्गाधर, पृ० २०४

चित्र मीमांसाकार ने उपमालंकार के कई लक्षण प्रस्तुत किये हैं- प्रथम लक्षण जैसे-

व्यापार उपमानाख्यो भवेद्यदि विवक्षितः।

क्रियानिष्पत्तिपर्यन्तमुपमालङ्कृतिस्तु सा।।[१]

भावार्थ यह है कि सादृश्य की स्थापना को अपना लक्ष्य बनाकर उपमान और उपमेय का वर्णित सादृश्य की उपमा है। इस तरह अपने उपमा लक्षण के औचित्य का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने अपने लक्षण को अव्याप्ति, अतिव्याप्ति दोषों से मुक्त बतलाया है।

व्यतिरेकालंकार में इस लक्षण की अतिव्याप्ति कवि को सादृश्य की स्थापना विवक्षित न होने की वजह से नहीं हो सकती। जैसे ''मुखेन निष्कलंकेन न समस्तव चन्द्रमा'' इस व्यतिरेकालंकार के उदाहरण में उपमान की न्यूनता बतलाई गई है। अतः उपमिति क्रिया की निष्पत्ति का अभाव होने से उपमा लक्षण की प्रशक्ति नहीं हो सकती है।

असिमात्र सहायोऽपि प्रभूतारि पराभवे।

नैवान्यतुच्छजनवत्सगर्वोऽयंमहाधृतिः।।[२]

केवल तलवार की सहायता से ही प्रचुर शत्रुओं का पराभव करने पर भी महाधैर्यवान् यह राजा अन्य क्षुद्र व्यक्तियों के साथ घमण्ड नहीं दिखलाता है।

अतः यहाँ भी प्रयोजक साधारणधर्मभूत घमण्डकर्तृत्व का निषेध होने से उपमिति क्रिया की निष्पत्ति नहीं होती है। अतः यहाँ उपमा लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती है।[३]

इसी तरह अनन्वयालंकार में भी अतिव्याप्ति नहीं होती है। क्योंकि कवि का तात्पर्य उपमानान्तर उपमालक्षण व्यवच्छेद में होता है इसे कवि

१. चित्रमीमांसा, पृ० ३८

२. चित्रमीमांसा, पृ० ६५

३. तथा च व्यतिरेके नातिव्याप्तिः, तत्र सादृश्यवर्णनसत्वेऽपि मुखेन निष्कलङ्केन' इत्यादौ साक्षात्तस्यैव निषेधेन नैवान्यतुच्छजनवत् इत्यादौ तत्प्रयोजक धर्म निषेधेन चोपमिति क्रियाया अनिष्पत्तेः। -चित्रमीमांसा, पृ० ६६

स्पष्टतः न करके उपमानोपमेय भाव सम्बन्ध से अभिव्यक्त करता है। अनन्वयालंकार में उपमा साधन है उपमानोपमेय सम्बन्ध को व्यक्त करने का। वस्तुतः अनन्वयालंकार में एक पदार्थ का उसी पदार्थ के साथ उपमानोपमेय भाव का वर्णन उपमानान्तर व्यवच्छेद के लिए किया जाता है। यहाँ उपमिति क्रिया निष्पन्न नहीं होती। यदि उपमिति क्रिया की निष्पत्ति को स्वीकार भी कर ले तो उपमानान्तर का व्यवच्छेद होने पर भी उपमेय में अनुपमत्व की प्रतीति नहीं होगी। अनन्वयालंकार का फल उपमेय में अनुपमत्व की प्रतीति कराना है।[१]

'रामरावणयोर्युद्धम् रामरावणयोरिव' इत्यादि में एक पदार्थ का उसी पदार्थ के साथ सादृश्य का वर्णन करने से उपमानान्तर का निषेध होता है और अपना ही अपने साथ उपमानोपमेय भाव असंभव होने के कारण वर्णित सादृश्य भी तिरोहित हो जाता है। यही इस अलंकार का निर्गलितार्थ है। अतः सादृश्य की स्थापना न होने के कारण उपमा लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती है।[२]

प्रतीपालंकार में भी उपमिति क्रिया की सिद्धि न होने से उपमा लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती है। जैसे-

आकर्णय सरोजाक्षि वचनीयमिदं भुवि।

शशाङ्कस्तव वक्त्रेण पामरैरूपमीयते।।[३]

हे कमल नयने ! यह निन्दा सुनो। धरती पर मूर्ख लोग तुम्हारे मुख के साथ चन्द्रमा की उपमा देते हैं। ''यहाँ कवि को सादृश्य निबन्धन विवक्षित न होकर उपमेय की उत्कृष्टता अभिव्यक्त करना अभीप्सित है। अतः यहाँ भी उपमिति क्रिया की सिद्धि न होने से लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो सकती।

१. नाप्यनन्वयेऽतिव्याप्तिः, तत्रापि स्वेन स्वस्य सादृश्यस्य सदृशान्तर व्यवच्छेदे रुद्ररोदन वपोत्खननाद्यर्थवादेऽसदर्थस्य निन्दास्तुत्योरिव द्वारमात्रतया वर्ण्यमानत्वेनोपमिति क्रियाया अनिष्पत्तेः। अन्यथा स्वस्य स्वेनोपमिति क्रियानिष्पत्तौ सदृशान्तरव्यवच्छेदेऽपि सर्वथा-नुपमत्वद्योतनं फलं न स्यात्।। -चित्रमीमांसा, पृ० ६९

२. चित्रमीमांसा, पृ० ६९

३. चित्रमीमांसा, पृ० ७०

''उभौ यदि व्योम्नि पृथक्प्रवाहौ'' इत्यादि स्थल में भी अप्पय दीक्षित के उपमा लक्षण की प्रसक्ति नहीं है। क्योंकि काव्यप्रकाशकार के ''यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम्''[१] सूत्र से उक्त उदाहरण में अतिशयोक्ति अलंकार है, न कि उपमा।

कल्पितोपमा में उपमा लक्षण की अव्याप्ति का निषेध श्री दीक्षित जी ने किया है-

''पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यान्मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम्।
ततोऽनुकुर्याद्विशदस्य तस्यास्ताम्रौष्ठपर्यस्तरुच: स्मितस्य।।''[२]

यहाँ पल्लव पर पुष्प की स्थिति और मूँगे पर मोती की स्थिति उपमान है और ये उपमान कल्पित होते हुए भी सम्भावित है। अत: यहाँ उपमा लक्षण की प्रसक्ति होने से यह अव्याप्ति दोष से सर्वथा मुक्त है।

इसी तरह ''चन्द्रबिम्बादिव विषं चन्दनादिव चानल:'' में चन्दन से अनल की निष्पत्ति उपमान है। यहाँ कवि को असम्भावित उपमान के ही साथ उपमिति क्रिया की निष्पत्ति इष्ट है। उपमिति क्रिया की निष्पत्ति विवक्षानुसारी होती है। अत: उपमा लक्षण में अव्याप्ति दोष नहीं है।

उपमिति क्रिया निष्पत्ति सत्पदार्थ निबन्धनाधीन न होकर कवि विवक्षा निबन्धनाधीन है। इसलिए लक्षण में विवक्षित विशेषण साभिप्राय है, सोद्देश्यपरक है, न कि निष्प्रयोज्य।[३]

अनन्वय अलंकार में उपमिति क्रिया निष्पत्ति के अभाव में उपमा के इस लक्षण की अति व्याप्ति नहीं हो सकती है। क्योंकि वहाँ एक पदार्थ का उसी पदार्थ के साथ जो सादृश्य वर्णन है वह उपमेय में अनुपमत्व की प्रतीति कराने के लिए ही होता है।

वृथा चरसि कि भृंग तत्र-तत्र वनान्तरे।
मालत्या: सदृशी क्वापि भ्रमन्नपि न लप्स्यसे।।

१. काव्यप्रकाश, उ० १०, का०सं० १००, पृ० ६२८
२. चित्रमीमांसा, पृ० ७३
३. व्यापार उपमानाख्यो भवेद्यदि विवक्षित:।
क्रियानिष्पत्तिपर्यन्तमुपमालङ्कृतिस्तु सा।। -चित्रमीमांसा, पृ० ६८

यहाँ वक्ता को अप्राप्त पदार्थ के साथ मालती का सादृश्य ही अभीष्ट है। यहाँ उपमान शब्दोपात न होने से उपमान लुप्तोप्मा का स्थल है। अत: यहाँ उपमा लक्षण की व्याप्ति हो जाती है।[१]

उपमा लक्षण इसीलिए दीक्षित ने एक और किया है-

''निरूप्यमाणं कविना सादृश्यं स्वात्मनो न चेत्।
प्रतिषेधमुपादाय पर्यवस्यति सोपमा।।''[२]

दीक्षित के मतानुसार सामान्य उपमा के पूर्वोक्त दो लक्षणों में अदुष्ट और अव्यंग्यत्व विशेषण डाल देने पर ये लक्षण अलंकारभूत उपमा के लक्षण बन जाते हैं। किन्तु विचारोपरान्त यह तथ्य निगमित होता है कि पूर्वोक्त दो लक्षणों में ही इनके फलित लक्षण भी निहित हैं। पण्डितराज ने भी इनके फलित लक्षणों को ही विशेषकर खण्डन का आधार बनाया है। पण्डितराज ने उपमा का लक्षण निम्न प्रकार किया है-

''सादृश्यं सुन्दरं वाक्यार्थोपस्कारकंमुपमालंकृति:।''[३]

वाक्यार्थ की शोभा बढ़ाने वाला सुन्दर सादृश्य अलंकार उपमा अलंकार है।

सौन्दर्य का तात्पर्य है कि चमत्कार और चमत्कार सहृदयों के हृदय द्वारा प्रमाणित अलौकिक आनन्द है।[४] मम्मट की तरह पण्डितराज भी उपमा लक्षण में उपमान और उपमेय का शब्दोपात्त चित्रण नहीं किया है। बल्कि आक्षेप से ग्रहण किया है जहाँ उपमान सादृश्य सम्बन्ध का प्रतियोगी होता है वहीं उपमेय उसका अनुयोगी।

पण्डितराज के मत से चमत्कारी सादृश्य का उपमा लक्षण में समावेश कर देने से अनन्वय अलंकार में इस लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो सकती

१. चित्रमीमांसा, पृ० ७४
२. वही
३. येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूते मनो मुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते स्वहृदयसंवादभाज: सहृदया:। यथोक्तम्
४. योऽर्थो हृदयसंवादी तस्यभावो रसोद्भव:।
शरीरं व्याप्यते तने शुष्कं काष्ठमिवाग्निना।। लोचन, उ० १, पृ० ७७-७८

है। ''गगनं गगनाकारम्''[1] इस उदाहरण में सादृश्य वर्णन कवि को इष्ट नहीं है तथा वह चमत्कारी न होने से अनन्वय रहित भी है। अत: अनन्वय में चमत्कारी सादृश्य के न होने से लक्षण की प्रसक्ति नहीं हो सकती है।

''तवाननस्य तुलनां दधातु जलजं कथम्'' इत्यादि व्यतिरेक के उदाहरण में भी उपमा लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो सकती है। यहाँ पर चमत्कार रहित सादृश्य का निरूपण होने के कारण व्यतिरेक में इस लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती है।[2] अभेदं प्रधान रूपक, अपह्नुति, परिणाम, भ्रान्तिमान तथा उल्लेख आदि में एवं भेद प्रधान दृष्टान्त, प्रतिवस्तूपमा, दीपक एवं तुल्ययोगिता आदि के मूल में विद्यमान सादृश्य के चमत्कारी न होने से वह उपमा अलंकार नहीं है। अत: यहाँ भी लक्षण की संगति नहीं हो सकती है। ''मुखमिव चन्द्र:'' इत्यादि प्रतीपालंकार के सम्बन्ध में और ''चन्द्रइव मुखं, मुखमिव चन्द्र:'' इत्यादि उपमेयोपमा अलंकार में सादृश्य के चमत्कारी होने के कारण उपमा के क्षेत्र में दोनां संग्राह्य है। अत: यहाँ लक्षण की प्रसक्ति अतिव्याप्ति नहीं कही जायेगी।[3] कल्पितोपमा में कल्पित उपमान के साथ उपमेय के सादृश्य वर्णन और कल्पित सादृश्य से आनन्दानुभूति के सिद्धान्त को यदि मान लिया जाये तो इस श्लोक में उपमा की उपपत्ति हो सकती है।

''स्तनाभोगे पतन्भाति कपोला, कुटिलोऽलक:।
शशांक विम्बतौ मेरौ लम्बमान इवोरग:।।''[4]

यहाँ कल्पित उपमान के साथ उपमेय के सादृश्य की कल्पना कर लेने से कोई बाधा नहीं है। उपमानान्तराभाव कल्पितोपमा का फल है। यह वैशिष्ट्य में साधक है, बाधक नहीं।[5]

१. गगनं गगनाकारं सागर: सागरोपम:।
रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव।।

२. रसगंगाधर, आ० २, पृ० २०४, पं० ११-१३

३. रसगंगाधर, आ० २, पृ० २०४

४. रसगंगाधर, आ० २, पृ० २०६

५. परे तु अस्या; कल्पितोमाया उपमानान्तराभावफलकत्वेनालंकारान्तरतामाहु: तन्न। सादृश्यस्य चमत्कारितयोपमान्तर्भावस्यैवोचितत्वात्, सन्निरूपितत्वस्य लक्षणे प्रवेशाभावात्। रसगंगाधर आ० २, पृ० २०६

''परे'' से पण्डितराज का मन्तव्य शोभाकरमित्र की ओर जाता है जो उपमानान्तराभाव रूपी फल के कारण कल्पितोपमा को उपमा से अतिरिक्त अलंकार मानते हैं। ''मित्र'' के मतानुसार कल्पितोपमा का फल है उपमानान्तराभाव। अत: उपमा में इसका आविर्भाव नहीं हो सकता है।[1]

पण्डितराज अनन्वय एवं कल्पितोपमा इन दोनों में अन्तर मानते हैं। अनन्वय में एक ही पदार्थ उपमान और उपमेय दोनों रहता है जबकि कल्पितोपमा में उपमान एवं उपमेय दोनों भिन्न पदार्थ रहते हैं। कल्पितोपमा के लक्षण में पण्डितराज ने ''एकोपमानोपमेयकम्'' विशेषण डाल दिया है। अत: कल्पितोपमा के स्थल में अनन्वय की अतिव्याप्ति नहीं हो सकती है।[2] पण्डितराज का फलत्वेन दोनों में साम्य बतलाना उचित नहीं है क्योंकि उपमानान्तराभाव अनन्वय का फल हो तो सकता है किन्तु कल्पितोपमा का फल नहीं हो सकता है। कल्पितोपमा में उपमेय के अतिरिक्त कम से कम एक उपमान तो अवश्य रहता है। उसी के साथ उपमेय की उपमा दी जाती है। अनन्वय में एक भी उपमान नहीं रहता है जबकि कल्पितोपमा में कम से कम एक उपमान रहता है।

पण्डितराज दीक्षित के उपमा लक्षण से सहमत नहीं है। अत: उन्होंने प्रत्येक पद का खण्डन किया है। अप्पय दीक्षित ने अलंकारभूत उपमा के अन्तिम दो लक्षणों[3] में अव्यंग्य और अदुष्ट आदि विशेषणों को अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोषों से मुक्त रखने हेतु कहा है। किन्तु पण्डितराज का कहना है कि अलक्षण में भी इसकी प्रसक्ति हो जाने से दीक्षित का अपना उपमा लक्षण दोषयुक्त है, सदोष है।

उपमा लक्षण में आये अव्यंग्य का खंडन जगन्नाथ ने इस तरह किया है। श्री दीक्षित ने निर्दोष वाच्य और उपमिति क्रिया की निष्पत्ति करने वाले सादृश्य वर्णन को उपमालंकार कहा है। दार्शनिक विचारधाराओं से चिन्तन

१. फलं चात्र प्रतिभटभूतवस्त्वन्तराभावप्रतिपादनम्।....अतएव नास्या उपमायामन्तर्भाव:। अलंकाररत्नाकर सू०सं० पृ० ९

२. कल्पितोमायामुपमायामतिप्रसंगवारणायैकोपमानोपमेयकान्ति अत्रासत उपमानस्य कल्पनया सदुपताने नास्तीति द्वितीय सदृशव्यवच्छेदस्यास्ति प्रतीति:। रसगंगाधर, पृ० २७१

३. चित्रमीमांसा, पृ० ७४

करने के उपरान्त यह निष्कर्ष निकलता है कि वर्णन को विलक्षण शब्दस्वरूप मानने पर उसके वाच्य होने के कारण तथा वर्णन को विलक्षण ज्ञानस्वरूप मानने पर उसके शब्दवाच्य न होने के कारण उपमा की अर्थालंकारता में बाधा पड़ती है अत: अव्यंग्य विशेषण व्यर्थ है।[१]

अप्पय दीक्षित उपमालंकार में सादृश्य वर्णन को वाच्य मानते हैं। पण्डितराज वर्णन को द्विविध बतलाकर अव्यंग्य विशेषण का खण्डन करते हैं। दीक्षित का आशय यह है कि उपमादिक अलंकार चित्रकाव्य के अन्तर्गत आते हैं। मम्मटादि ने भी चित्रकाव्य को अव्यंग्य माना है।[२] अप्पय दीक्षित ने भी उसे अव्यंग्य ही कहा है।[३] किन्तु पण्डितराज ने अलंकार को उपस्कारक मानते हुए कहा कि यदि व्यंग्य उपमा भी किसी का उपस्कार करती है तो वह अलंकार ही है। यह उपमा गुणीभूतव्यंग्य कहलायेगी। यथा-

अद्वितीयं रूचात्मानं मत्वा किं चन्द्र हृस्यसि।
भूमण्डलमिदं मूढ़ केन वा विनिभालितम्।।[४]

पण्डितराज के मतानुसार यहाँ उपमा के व्यंग्य होकर अलंकार होने से गुणीभूत है। किन्तु दीक्षित ने व्यंग्य उपमा के निरसन के लिये जो भी अव्यंग्य विशेषण प्रस्तुत किया वह समीचीन नहीं है। पंडितराज के अनुसार उपमा वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य होकर भी अलंकार हो सकती है।[५] किन्तु ऐसा मानने से काव्य की कोटि में अन्तर पड़ जायेगा और अव्यवस्था उत्पन्न होगी अत: वाच्यालंकार मानते हुये उपमा को अवर कोटि में ही रखना न्यायोचित है।

उपर्युक्त 'अद्वितीयम् रुचात्मानं' उदाहरण में पण्डितराज ने उपस्कार्य

१. अप्पयदीक्षिता: पुनश्चित्रमीमांसायाम् - 'उपमितिक्रियानिष्पत्तिमत्सादृश्यवर्णनम् अदुष्टम-व्यग्यमुपमालंकार;। स्वंनिषेधापर्यवसायि सादृश्यवर्णनम् वा तथाभूतं तथा इतिलक्षण-द्वयमाहु:।....तस्य सर्वथैवाव्यङ्ग्यत्वादव्यङ्ग्यत्व विशेषणवैयर्थ्याच्च। रसगंगाधर आ० २, पृ० २१०

२. शब्दचित्र वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम्। का०प्र०उ० १ पृ० २२

३. यदव्यङ्ग्यमपि चारु तच्चित्रम्। चित्रमी० पृ० ३५

४. रसगंगाधर आ०पृ० २३७

५. रसगंगाधर आ० २, पृ० २३६-२३७

और उपस्कारक भाव मानते हुये गुणीभूत व्यंग्य माना है यह भी उचित नहीं है। काव्य में त्रिविध ध्वनियों की स्वतंत्र सत्ता, आनन्दवर्धन, काव्यप्रकाशकार मम्मट ने भी माना है।[१] यहाँ उपमा अलंकार ध्वनि और भावध्वनि के कारण ध्वनिकोटि की है, न कि गुणीभूत व्यंग्यकोटि की। अत: पण्डितराज द्वारा दीक्षित के अव्यंग्य का खण्डन उचित नहीं प्रतीत होता है।

पण्डितराज ने अव्यंग्य का खण्डन करने के उपरान्त अदुष्ट और उपमिति क्रिया निष्पत्तिमत् विशेषणों को भी व्यर्थ बतलाया और यह सुझाव दिया कि इनके स्थान पर लक्षण कुक्षि में यदि चमत्कारकारी विशेषण रख दिया जाय तो लक्षण बहुत कुछ ठीक हो जायेगा। पण्डितराज का यह आक्षेप भी युक्तिसंगत नहीं है। 'गौरिव गवय:' इत्यादि स्थलों में उपमिति क्रिया की निष्पत्ति नहीं हो रही है निष्कर्ष यह है कि चमत्कारी सादृश्य के रहने पर ही उपमिति क्रिया की निष्पत्ति होती है। जगन्नाथ ने भी इस बात को स्वीकार किया है।[२]

पण्डितराज ने दीक्षित के लक्षण में चमत्कारी विशेषण को समाविष्ट करने का सुझाव देते हुए बताया कि 'स्व निषेधापर्यवसायित्व' यह विशेषण निरर्थक हो जायेगा। अत: इसकी कोई आवश्यकता नहीं है। अत: व्यतिरेक और अनन्वय अलंकारों में सादृश्य के चमत्कारी न होने के कारण ही उनमें लक्षण की प्रसक्ति रुक जायेगी। अत: स्वनिषेधापयवसायित्व सादृश्य का विशेषण बतलाने की कोई आवश्यकता नहीं है।[३]

किन्तु दीक्षित का मन्तव्य अनन्वय और व्यतिरेक में अतिव्याप्ति रोकने का नहीं बल्कि कुछ और था। पण्डितराज ने अनन्वय और व्यतिरेक का प्रश्न उठाकर ठीक नहीं किया। दीक्षित जी ने लक्षण में 'उपमिति क्रिया निष्पत्तिमत्' विशेषण अनन्वय और व्यतिरेक में अतिव्याप्ति का वारण करने हेतु प्रयुक्त किया। इनका 'स्वनिषेधपर्यवसायि' विशेषण रखने का औचित्य बस इतना ही है कि उपमा में अन्य तत्त्व का निषेध भले ही हो जाय, किन्तु

१. एवंवस्त्वलङ्कारसभेदेन त्रिधा ध्वनिरत्र श्लोके अस्मद्गुरुभिर्व्याख्यात:।

२. न ह्यनिष्पन्नमापातत: प्रतीयमानं सादृश्यं चमत्कृतिमाधत्ते।
रसगंगाधर आ० २, पृ० २११

३. रसगंगाधर आ० २, पृ० २११

सादृश्य स्थापन का निषेध न हो।

स्तनाभोगे पतन्भाति कपोलात्कुटिलोऽलक:।
शशांकाबिम्बितौ मेरौ लम्बमानं इवोरग:।।

यहाँ श्रृंगार मुख्य वाक्यार्थ है। वाच्य उपमा उसी का उपस्कार कर रही है। अत: यह अलंकार स्वरूप है किन्तु पण्डितराज ने इसे अलंकार नहीं बतलाया। जगन्नाथ ने स्वयं इस स्थल पर कल्पितोपमा स्वीकार किया है। पण्डितराज विरुद्ध कथन करते हैं, एक तरफ तो वे इस उदाहरण को अलंकारभूत उपमा का उदाहरण बताते हैं दूसरी ओर दीक्षित के लिए अनलंकारभूत उपमा का।

उपमान, उपमेय, साधारणधर्म और उपमावाचक इव आदि इन चारों शब्दों का शब्दत: उपादान होने के कारण पूर्णोपमा होती है। इनमें से किसी एक तत्व का अभाव रहने पर लुप्तोपमा होती है।[१] यह लुप्तोपमा अनुपादान भेद से आठ प्रकार की होती है।[२] मम्मट ने समास एवं भिन्न-भिन्न प्रत्ययों के प्रयोग के आधार पर पूर्णोपमा के ६ भेद और लुप्तोपमा के १९ भेद बताकर कुछ २५ भेद स्वीकार किए हैं।[३]

साधारण धर्म के स्वरूप निर्देश के आधार पर दीक्षित एवं पण्डितराज ने उपमा का वर्गीकरण किया है। उपस्कार्य भेद से भी उपमा के पाँच प्रकार होते हैं।[३] दीक्षित और जगन्नाथ के मत से रूपक के आठ भेदों की तरह उपमा के भी आठ भेद हो सकते हैं।[४]

---

१. उपमानोपमेयसाधारणधर्मोपवाचकानां चतुणमुपादाने पूर्णा।
तेषामेकस्य द्वयोस्त्रयाणां वा लोपे सति लुप्ता। चित्रमीमांसा पृ० ७७

२. वर्ण्योपमानधर्माणांमुपमावाचकस्यं च।
एकद्वितीयनुपादानैर्भिन्ना लुप्तोपमाष्टधा।। कु०का०सं० ७, पृ० ६

३. इयं चैवं भेदोपमा वस्त्वलंकाररसरूपाणां प्रधानव्यंग्यानां
वस्त्वलंकारयोर्वाच्ययोश्चोपस्कारकतया पञ्चधा।। रसगंगाधर २२६

४. एवमष्टौ भेदा रूपकालंकारस्य प्राचीनै: प्रदर्शिता:। एवं भेदा उपमाणा अति वक्तुं शक्या:, एकत्र प्रदर्शितेन प्रकारेण संभवस्थलेऽन्यत्राप्युन्नेतुं शक्या इति न प्रदर्शिता:। चित्रमी० पृ० १८१

साधारण धर्म की वाच्यता आदि के आधार पर उपमा के त्रिविध भेद होते हैं जैसे वाच्य धर्मोपमा, लक्ष्य धर्मोपमा, व्यंग्यधर्मोपमा। उपमा के वर्गीकरण का यह आधार जगन्नाथ को अभीष्ट है। उपमा प्रतिपादक शब्दों के आधार पर भी उपमा को वाच्यालंकार, लक्ष्यालंकार तथा व्यंग्योपमा रूप से वर्गीकरण करना जगन्नाथ को अभीष्ट है।[१]

उपमा के कार्य के आधार पर इसके दीक्षित ने त्रिविध भेद किये हैं यथा-

१. स्ववैचित्र्यमात्रविश्रान्ता, २. उक्तार्थोपपादनपरा, ३. व्यंग्यप्रधाना।

उपमा के वर्गीकरण विभिन्न आधारों से असंख्य भेद हैं।[२] अब आगे उपमा का भेद और इस बारे में विद्वानों के मत वैभिन्न्य का प्रस्तुतीकरण किया जायेगा। मुख्यतया मम्मट एवं अप्पय दीक्षित कृत उपमा के भेद का ही प्रतिपादन प्राय: विद्वानों को अभीष्ट है। किन्तु पण्डितराज के मतानुसार इन भेद-प्रभेदों में कोई रुचि न होने की वजह से महत्व नहीं दिया गया। मम्मटकृत ६ प्रकार की पूर्णोपमा एवं १९ प्रकार की लुप्तोपमा के साथ-साथ अप्पयकृत अतिरिक्त भेद एवं पण्डितराज कृत खण्डन प्रस्तुत किये गये हैं। काव्यावतार मम्मट के अनुसार उपमा के जहाँ २५ भेद हैं, वहीं अप्पयदीक्षित के मतानुसार इसके ३२ भेद हैं। उपस्कारकता भेद से पञ्चधा विभाजन होने के कारण क्रमश: उक्त २५ भेद १२५ और अप्पय के ३२ भेद १६० हो जाते हैं।

१. व्यंग्य वस्तु की उपस्कारिका जैसे-

अविरतपरोपकरणं व्यग्रीभवदमलचेतसां महताम्।
आपातकाटवानि स्फुरन्ति वचनानि भेषजानीव।।[३]

''भेषजानीव'' पद से वाच्य होने वाली उपमा इसी व्यंग्यार्थ का उपस्कार करती है।

---

१. रसगंगाधर, आ० २, पृ० २३६

२. अपर्यन्तो विकल्पानां रूपकोपमयोर्यत:।
दिग्मात्रं दर्शितं धीरैरनुक्तमनुमीयताम्।। चित्रमी० पृ० १८६

३. रसगंगाधर, पृ० १७२

२. व्यंग्यालंकार की उपस्कारिका उपमा जैसे-

अंकायमानमलिके मृगनाभिपंकम् पंके रूहाक्षिवदनं तव वीक्ष्य विभ्रते।।
उल्लासपल्लवितकोमलपक्षमूलाश्चञ्चूपटं चपलयन्ति चकोरपोता:।।[१]

३. रस की उपस्कारिका उपमा 'दलदरविन्द' में प्रस्तुत है।

४. वाच्य वस्तु की उपस्कारिका जैसे-

अमृतद्रवमाधुरीभृत: सुखयन्ति श्रवसी सखे गिर:।
नयने शिशिरीकरोतु मे शरदिन्दुप्रतिभं मुखं तव।।[२]

५. वाच्यालंकार की उपस्कारिका-

प्राय: प्रश्न उठता है कि उपर्युक्त उदाहरणों में एक अलंकार दूसरे का उपस्कारक है तो उपस्कार्य होने पर एक अलंकार कैसे हो सकता है। किन्तु इसका परिहार यह है कि जिस प्रकार ताटंकादि आभूषण कामिनी के कर्ण के प्रति उपस्कारक है। आपस में वही अन्यों के प्रति अलंकार्य हो जाते हैं। उसी प्रकार रसादि के सान्निध्य में जो उपमादि अलंकार होते हैं वही किसी अन्य अप्रधान अलंकार के प्रति अलंकार्य हो जाते हैं। उपस्करण भी द्विधा होता है- साक्षात् एवं परम्परया। साक्षात् उपस्कारिणी उपमा के भेद उपर्युक्त उदाहरण हैं। किन्तु परम्परया उपस्कारिणी उपमा के उदाहरण निम्नवत् हैं-

''नदन्ति मददन्तिन: परिलसन्ति वाजिव्रजा:।
युगान्तदहनोपमा नयनकोणशोणद्युति:।।''[३]

साधारण धर्म के आधार पर फिर उपमा के ६ भेद हो सकते हैं। ये निम्नवत् हैं-

१. जहाँ वह धर्म अनुगामी हो। जैसे-

शरददिन्दुरिवाह्लादजनको रघुनन्दन:
वनस्रजा विभाति स्म सेन्द्रचापइवाम्बुद:।।[४]

---

१. रसगंगाधर, पृ० १७२
२. रसगंगाधर, पृ० १७२
३. रसगंगाधर, पृ० १७९
४. रसगंगाधर, पृ० १७४

२. बिम्बप्रतिबिम्बात्मक धर्म का उदाहरण जैसे-

कोमलातपशोणाभ्रसन्ध्याकालसहोदर:।
काषायवसनो याति कुङ्कुमालेपनो यति:।।[१]

इसी तरह से अन्यों का भी उदाहरण यथास्थान रसगंगाधर में उद्धृत है, किन्तु यहाँ विस्तार भय से प्रसंग उचित नहीं है।

साधारण धर्म के पुन: त्रिविध होने से उपादेय, अनुपादेय और उपादेयानुपादेय भेद होते हैं। जिस साधारण धर्म को शब्दत: कहने की नियमत: अपेक्षा होती है वह उपादेय होता है। जैसे- ''नीरदा इव ते भान्ति बलाकाराजिता भटा:। जो साधारण धर्म प्रसिद्ध हो एवं शब्दत: कथित न होने पर भी जिनका बोध नियमत: हो ही जाता है वह अनुपादेय धर्म होते हैं जैसे- ''अरविन्दमिव मुखम''। उपादेयानुपादेय धर्म का उदाहरण है- शंखवत्पा-ण्डुरच्छवि:। रूपक अलंकार के सावयव और निरवयव भेद की तरह उपमा के भी ८ भेद होते हैं- उपमा के वाच्यत्व, लक्ष्यत्व व व्यंग्यत्व से भी त्रिविध भेद होते हैं।

इस तरह पण्डितराज ने विभिन्न दृष्टियों से उपमा का भेद निरूपण किया है।

मम्मट ने पूर्णा और लुप्ता रूप से उपमा के दो भेद किए हैं तथा लुप्तोपमा के १९ प्रकार कहे हैं।

पूर्णोपमा के प्रथमत:- श्रौती और आर्थी दो भेद होते हैं- वाक्यगा, समासगा, तद्धितगा भेद से पूर्णोपमा के श्रौती के ३ भेद और आर्थी के ३ भेद कुल ६ भेद होते हैं।

लुप्तोपमा सात प्रकार की होती है- उपमानलुप्ता, धर्मलुप्ता, वाचकलुप्ता, धर्मोपमानलुप्ता, वाचकधर्मलुप्ता, वाचकोपमेयलुप्ता, धर्मोपमानवाचकलुप्ता। फिर उपमानलुप्ता दो प्रकार की होती है- १. वाक्यगा, २. समासगा। धर्मलुप्ता ५ प्रकार की होती है- श्रौती वाक्यगा, आर्थीवाक्यगा, श्रौती समासगा, आर्थीसमासगा, आर्थीतद्धितगा। वाचकलुप्ता के समासगता, कर्मक्य-ज्जगता:, आधारक्यज्गता, क्यंग्यता, कर्मणमुल्गता, कर्तृणमुल्गता ये ६

---

१. रसगंगाधर, पृ० १५९

प्रकार के भेद होते हैं।

धर्मोपमानलुप्ता वाक्यगता और समासगता दो प्रकार की होती है। वाचक धर्मलुप्ता क्विग्ता और समासगता दो प्रकार की होती है।

वाचकोपमेयलुप्ता एक ही प्रकार की होती है तथा धर्मोपमान वाचकलुप्ता केवल समासगता ही होती है।

मम्मटाचार्य ने वाचकलुप्ता का उदाहरण काव्य प्रकाश में यह दिया है-

पौरं सुतीयति जनं समरान्तरेऽसा-
वन्तः पुरीयति विचित्रचरित्रचुञ्चुः।
नारीयते समरसीम्नि कृपाणपाणे-
रालोक्य तस्य चरितानि सपत्नसेना।।[1]

पण्डितराज के मत से यह वाचकलुप्ता का उदाहरण नहीं बन सकता है क्योंकि इसमें धर्म का लोप भी है। एतदर्थ वे निम्न तर्क देते हैं-

१. उपमाप्रयोजकतावच्छेदक धर्म साधारण धर्म होता है। उक्त उदाहरण में किसी ऐसे साधारणधर्म का कथन नहीं हुआ है जो उपमा का प्रयोजक हो।

२. क्यच् और क्यङ् प्रत्ययों का वाच्य आचाररूप अर्थ साधारण धर्म नहीं हो सकता है।

३. उपमा के प्रयोजक रूप से ही साधारण धर्म का अभाव होना ही धर्मलोप कहलाता है, यदि ऐसा न माने तो ''मुखरूपमिदं वस्तु प्रफुल्लमिव पंकजम्'' इसमें पूर्णोपमा हो जायेगी। इस प्रकार कुल ६ प्रकार की पूर्णोपमा और १९ प्रकार की लुप्तोपमा २५ उपमा के भेद हुए।

प्रथम मतः- अप्पय दीक्षित के मतानुसार मम्मट ने वाचक लुप्ता के जो ६ भेद बतलाये हैं उसके अतिरिक्त उसके तीन भेद और होते हैं। पहला भेद 'कर्तृयुपमाने' सूत्र से णिनि प्रत्यय होने पर उपमालंकार होती है जैसे 'कोकिलालापिनी' में कोकिल इव आलपति यहाँ णिनि प्रत्यय है।

दूसरा भेद 'इवे प्रतिकृतौ' सूत्र से कन् प्रत्यय होने पर लुम्मनुष्ये' से

१. काव्यप्रकाश, पृ० १४४

उसका लोप होकर होता है जैसे 'चञ्चा पुरुषः' सोऽयं यः स्वहितं नैव जानीते, इसमें चञ्चापद में कन् प्रत्यय का लोप है।

तीसरा भेद- आचार अर्थ में क्विप् प्रत्यय होने पर होता है तथा किसी अन्य पद से समान धर्म का प्रतिपादन होता है जैसे- ''आह्लादि वदनं तस्य शरद्राकामृगांकति'' यहाँ मृगांकति में क्विप् प्रत्यय है।

उपमान लुप्ता वाक्यगा और समासगा दो प्रकार की बतलाई गई है। उसका तीसरा भेद तद्धितगा भी होता है। यथा-

''यच्चोराणामस्य च समागमो यच्च तैर्वधोऽस्यकृतः।
उपनतमेतदकस्मादासीत्तत्काकतालीयम्।।[1]

यहाँ उपमान लुप्ता तद्धितगा उपमा है। वाचकोपमानलुप्ता का उल्लेख ही नहीं किया गया है। यद्यपि वह भी लुप्तोपमा का एक प्रकार है। धर्मोपमान लुप्ता वाक्यगा और समासगा दो प्रकार की कही गई है, वह तद्धितगा भी होती है। वाचक धर्म लुप्ता भी तद्धितगा होता है। जैसे- ''चञ्चापुरुषः सोऽयं योऽत्यन्तं विषयवासनाधीनः।''

अतः इन्हें मिलाकर कुल उपमा के ३२ भेद होते हैं।

द्वितीय मत- जो धर्मलुप्ता उपमा वाक्यगा, समासगा और तद्धितगा तीन प्रकार की कही गई है वह द्विर्भाव में भी दृष्टिगत होती है जैसे ''पटुपदुर्देवदत्तः।''[2]

तृतीय मत- धर्मवाचक लुप्तोपमा में 'मम्मटसम्मत' क्विप्गता और समासगता के अतिरिक्त कन् प्रत्यय के लोप से भी उपमा का एक भेद होता है यथा- नृणां यः सेवमानानां संसारोप्यपवर्गति।
तं जगत्यभजन्मर्त्यश्चञ्चा चन्द्रकलाधरम्।।[3]

इस पद्य में 'अपवर्गति' में क्विप् प्रत्यय तथा 'चञ्चा' पद में कन् प्रत्यय है। इन्हीं पदों में उपमा है।[4]

१. रसगंगाधर, पृ० १६९
२. धर्मलुप्ता वाक्यसमासतद्धितेषु दर्शिता द्विर्भावेऽपि दृश्यते। ''पटुपटुर्देवदत्तः'' इत्यत्र 'प्रकारे गुणवचनस्य' इति सादृश्य द्विर्भावविधानात्। रसगंगाधर, पृ० २२३
३. रसगंगाधर, पृ० १७१
४. अत्र क्विप् कनोर्लोपे प्रत्येकं वाचक धर्मलोप उभयत्रापि। रसगंगाधर, पृ० १७१

चतुर्थ मत- रूपयौवनलावण्यस्पृहणीयतराकृतिः।
पुरतो हरिणाक्षीणंमेषपुष्पायुधीयति॥[1]

यहाँ वाचकोपमेयलुप्ता उपमा है।

पंचम मत- उपमा के तीन प्रकार स्ववैचित्र्यमात्रविश्रान्ता, उक्तार्थोपपादनपरा और प्रधान व्यंग्यात्मिका पूर्व में ही कही जा चुकी है।

षष्ठ मत- पूर्णोपमा में साधारण धर्म के भेद से जो नाना प्रकार होते हैं वे लुप्तोपमा में नहीं होते हैं।[2]

पण्डितराजकृत अप्पयदीक्षित के उक्त मतों का खण्डन- प्रथम मत के सम्बन्ध में पण्डितराज को कोई आपत्ति नहीं है।

द्वितीय मत के खण्डन में निम्न तर्क दिए हैं- 'पटुपटुर्देवदत्तः यहाँ वाचक शब्द का उपादान न होने के कारण इसे धर्म लुप्ता का उदाहरण नहीं कहना चाहिए। द्वित्व सादृश्य का वाचक नहीं अपितु द्योतक है। इसकी द्योतकता में प्रमाण है- कैय्यट के अनुसार 'प्रकारेगुणवचनस्य' सूत्र में की गई व्याख्या।

तृतीय मत का खण्डन- ''नृणां यः सेवमानानां'' इत्यादि पद वाचक धर्मलुप्ता का उदाहरण नहीं है। क्योंकि 'चञ्चा' पद में सादृश्य के वाचक कन् प्रत्यय का लोप होने पर भी ''तं चन्द्रकलाधरमभजन्'' इस अंश से चन्द्रकलाधरभजन राहित्यरूप साधारण धर्म का कथन हो जाने से इसमें धर्म का लोप कहना अनुचित है। अप्पय ने 'स्वहिताकर्तृत्व' और पण्डितराज ने 'शिवभजनराहित्य' को लेकर धर्मलुप्तात्व की व्याख्या प्रस्तुत की है।

यदि यह कहा जाय कि सादृश्य साधारण धर्म का वस्तुतः नियामक है। उभयवृत्तित्वज्ञान तो चाहे उसका साक्षात दोनों के साथ अन्वय न होता हो या फिर उपमेय के या उपमान के विशेषण के रूप में उपात्त होने से उसे साधारण धर्म मान लेना चाहिए तो यही दृष्टि ''चन्द्रकलाधरभजनराहित्य'' के प्रति भी अपनानी चाहिए।

१. रसगंगाधर, पृ० १७१
२. वही, पृ० १८१

यदि चन्द्रकलाधरभजनराहित्य को उपमेयतावच्छेदक तथा स्वात्महिताकरण साधारणधर्म माना जाय तब ''नृणां यः सेवमानानां'' इत्यादि पद्य में धर्म का लोप माना जा सकता है।

चतुर्थ मत का खण्डन वाचकोपमेयं लुप्तोपमा के 'रूपयौवनलावण्य' आदि उदाहरण में व्याकरण सम्मत त्रुटि है पुरतः पद के दूषित होने से। यहाँ पुर शब्द का जो अर्थ विवक्षित है सम्मुख वह वास्तव में होता ही नहीं है। इसके अतिरिक्त वैयाकरणों ने भी स्पष्ट कहा है- पत्यापुरतः परतः आत्मीयं चरणं दधाति पुरतो निम्नोन्नतायां भुवि और पुरतः सुदती समागतम माम आदि किन्तु ये अपवाद है।

पंचम मत का खण्डन भी पण्डितराज ने निम्नवत् किया है। उन्होंने अप्पय दीक्षित के द्वारा किये गए उपमा के त्रिविध भेदों का भी खण्डन कर दिया है।

षष्ठ मत के खण्डन में पण्डितराज ने कहा है कि अप्पय दीक्षित के अनुसार उपमा के लुप्ता प्रकार में उक्त भेद सम्भव नहीं है, ठीक नहीं है क्योंकि ''मलयइव जगति पाण्डुर्वल्मीक इवाधिधरणि धृतराष्ट्रः'' यहाँ धर्म लुप्ता उपमा है परन्तु इसमें कोई धर्म अनुगामी नहीं है। पण्डितराज ने उपमाध्वनि को स्वीकार करते हुए इसके दो भेद माने हैं। १. शब्दशक्तिमूल, २. अर्थशक्तिमूल। पण्डितराज ने सर्वप्रथम सर्वाधिक मान्यताप्राप्त मम्मटादि के लक्षणों को भी दृष्टिगत करके तुलनात्मक एवं प्रामाणिकता की सिद्धि करते हुए उपमा का विवेचन किया है। पण्डितराज के मत से सादृश्य और साधर्म्य में कोई भेद नहीं है। दो धर्मों की समानता को सादृश्य या साधर्म्य कहा जाता था किन्तु पण्डितराज ने उनके अध्यवसाय को सादृश्य कहकर उपमा के क्षेत्र में नवीन योग दिया है।

भेदों के सम्बन्ध में भी पण्डितराज ने महत्व नहीं दिया है जितना दीक्षित ने। पण्डितराज ने दीक्षित के मतों को जमकर खण्डित करने की कोशिश की है किन्तु न्यायोचित ढंग से नहीं। व्याकरण के बल पर दिये गये दोष सहृदयग्राही नहीं है अतः पण्डितराज द्वारा दीक्षित का किया गया खण्डन वाद नहीं अपितु जल्प व वितण्डा का रूप धारण कर लेता है।

उपमेयोपमा

अर्थचित्रोपस्कारक अलंकारों में उपमेयोपमा का दूसरा स्थान है। सर्वप्रथम इसका उल्लेख भामहाचार्य ने किया। दण्डी ने इसे स्वतंत्र अलंकार न मानकर उपमा का ही एक भेद माना। तदनन्तर उद्‌भट, वामन, मम्मट, रूय्यक, शोभाकर, विद्याधर, विद्यानाथ, जयदेव, विश्वनाथ, दीक्षित और जगन्नाथ प्रभृति ने अपने-अपने ढंग से विवेचन किया। प्राचीन आचार्यों ने उपमेयोपमा का लक्षण इस प्रकार किया है-

उपमानोपमेयत्वं द्वयोः पर्यायतो यदि

उपमेयोपमा सा स्याद् विविधैषा प्रकीर्तिता।[१]

अर्थात् जहाँ दो वस्तुएँ पर्याय से (परस्पर युगपत नहीं) उपमानोपमेय बने वहाँ उपमेयोपमालंकार होता है किन्तु इसके विपरीत जहाँ दो वस्तुएँ युगपत एक साथ उपमानोपमेय बनती हैं वहाँ भी उपमेयोपमा हो सकता है। जैसे-

त्वद्वल्गुना युगपदुन्मीषितेन तावत्

सद्यः परस्परतुलामधिरोहतां द्वे।।

प्रस्पन्दमानपरूषेतरतारमन्त-

चक्षुस्तव प्रचलित भ्रमरश्च पद्मम्।।[२]

इस पद्य में रघु के नेत्र और कमल को युगपत एक ही वाक्य में एक दूसरे का एक उपमानोपमेय बताया गया है। ऐसी स्थिति में प्राचीनों के उपमानोपमेय लक्षण की अव्याप्ति हो जाती है।

दूसरी आपत्ति सादृश्य को लेकर है। दीक्षित के मतानुसार उपमेयोपमा में केवल दो प्रकार के सादृश्य होने चाहिए-

१. अनुगामी जो उत्पत्ति से लेकर विनाश तक स्थायी रहे।

२. वस्तु प्रतिवस्तुभावः- जहाँ दो धर्मियों में एक ही धर्म का शब्द भेद से दो बार उपादान हो। किन्तु इसका भी अपवाद देखने को मिलता है। जैसे-

१. चित्रमीमांसा, पृ० १३३

२. चित्रमीमांसा, पृ० १३६ रघुवंश ५वां सर्ग

रजोभिः स्यन्दनोदधूर्तर्गजैश्च धनसन्निभैः।

भुवस्तलमिव व्योम कुर्वन् व्योमेव भूतलम्।।[१]

यहाँ पृथ्वी और आकाश के धर्म भिन्न-भिन्न हैं। एक स्थान पर हाथी है दूसरे स्थान पर मेघ है इसलिए यहाँ बिम्बप्रतिबिम्ब भाव सादृश्य है और परस्परोपमा है। उपमेयोपमा में तृतीय सादृश्य निषेध का होना आवश्यक है। जैसे तेरा मुख चन्द्रमा के समान है या चन्द्रमा तेरे मुख के समान है अर्थात् मुख और चन्द्रमा के समान तीसरा है ही नहीं। उक्त उदाहरण 'रजोभिः स्यन्दनोधूतैः' में तृतीय सदृश निषेध की प्रतीति न होने के कारण उपमेयोपमा नहीं है। किन्तु प्राचीनों का उपमेयोपमा का लक्षण यहाँ घटित हो जायेगा अतः यह लक्षण अतिव्याप्ति दोष से ग्रस्त है।

दीक्षित के अनुसार उपमेयोपमा का लक्षण निम्न है-

अन्योन्येनोपमा बोध्या व्यक्त्या वृत्यन्तरेण वा।

एक धर्माश्रया सा स्यात्सोपमेयोपमा स्मृता।।[२]

अर्थात् जहाँ उपमान और उपमेय दोनों एक दूसरे के किसी एक ही वाच्य अथवा व्यंग्य धर्म के आधार पर हो वहाँ उपमेयोपमा होगी। इसकी तीन अवस्थायें होती हैं-

साधर्म्य के व्यंग्य होने पर-

खमिव जलं जलमिव खं हंसइव चन्द्रश्चन्द्र इव हंसः।

कुमुदाकारास्तारास्ताराकाराणि कुमुदानि।।[३]

जल आकाश के समान है, आकाश जल के समान है। चन्द्रमा हंस के समान है। तारागण कुमुदिनी की तरह सुशोभित है और कुमुदिनियाँ तारागण की तरह सुशोभित हैं। यह शरद ऋतु का वर्णन है। यहाँ साधारण कर्म निर्मलता है जो कि व्यंग्यगम्य है। किन्तु उपमेयोपमा में सादृश्य व्यंग्य भी हो सकता है दीक्षित का यह मत चिन्तनीय है।

१. चित्रमीमांसा, पृ० ५३ रघुवंश ४-२९

२. चित्रमीमांसा, पृ० १४०

३. चित्रमीमांसा, पृ० ४९ सुधा व्याख्या

२. साधर्म्य के वाच्य होने पर-

सुगन्धि नयनानन्दि मदिरामदपाटलम्।
अम्भोजमिव ते वक्त्रं त्वदवक्त्रमिव पंकजम्।।[१]

यहाँ कमल और मुख में सुगन्ध आदि अनुगामी धर्मवाच्य है।

३. वस्तुप्रतिवस्तुभाव में उपमेयोपमा-

सच्छायाम्भोजवदना: सच्छायवदनाम्बुजा:।
वाप्योंऽगना इवाभान्ति यत्रवाप्य इवांगना:।।[२]

यहाँ शोभा धर्म वस्तु प्रतिवस्तुभाव से प्रतिपादित हुआ है।

इस अलंकार का प्रमुख उद्देश्य उपमानान्तर तिरस्कार है। यही कारण है कि विभिन्न आलंकारिकों ने उपमा से उपमेयोपमा को एक पृथक वाच्य और सौन्दर्य माना है तथा उसे एक अतिरिक्त अलंकार के रूप में मान्यता दी है। वस्तु प्रतिवस्तु भावरूप उपमेयोपमा के विशेष रूप से उदाहरण इस प्रकार हैं-

वक्त्रं पद्ममिवैतस्या नेत्रं भृंगमनोहरम्
पद्मं वक्त्रमिवाभाति भृंगलोचनभूषितम्।।[३]

यहाँ कमल भौंरे की तरह कजरारी आँखों से युक्त मुख की तरह शोभा पा रहा है। दीक्षित जी की चित्रमीमांसा में निगमित इतनी परिष्कृत व्याख्या के बावजूद पण्डितराज को कई आपत्तियाँ हैं जो कि चिन्तनीय हैं-

प्रथम आपत्ति यह है कि दीक्षित के मतानुसार तो-

''अहं लताया: सदृशीत्यखर्वं गौराणि गर्वम् न कदापि माया।
गवेषणेनालमिहम्परेषामेषापि तुल्या तव तावदस्ति।।

अर्थात् हे गौरांगि ! मैं लता के समान हूँ। इस तरह का महान गर्व तुम कभी न करना क्योंकि इसके लिए किसी दूसरे को ढूँढ़ने की आवश्यकता

१. चित्रमीमांसा, पृ० १३५
२. वही, पृ० १३५
३. वही, पृ० १७२

नहीं है। यह लता ही तुम्हारे समान है। अर्थात् यह लता तो अनायास तुम्हारे सदृश निकल आयी। यदि इस तुलना को खोजा जाय तो पता नहीं कितनी ऐसी वस्तुएँ सामने उपस्थित हो जायें।

उक्त उदाहरण में दीक्षित जी के लक्षणानुसार उपमेयोपमा का होना अनिवार्य हो जाता है। अगर यह कहें कि उपमेयोपमा मान लेने पर विवाद समाप्त हो जायेगा तो ऐसी बात भी नहीं है क्योंकि उक्त उदाहरण के उत्तरार्द्ध में केवल गर्वम् को हटा देने से भी तृतीय सदृश की निवृत्ति का प्रतिपादन नहीं होता है। यहाँ ''और भी तेरे समान है ही पर उनको खोजने से क्या फल'' इस अर्थ का प्रतिपादक उत्तरार्द्ध तर्कसंगत होता है।

जब तक तृतीय सादृश्य निषेध की निवृत्ति नहीं होती हो तब तक उपमेयोपमा हो ही नहीं सकती है यही दीक्षित का भी मत है।

पण्डितराज का कहना है कि यदि आप 'अहं लताया:' इस श्लोक में अतिव्याप्ति दोष निवारणार्थ ''तृतीय सदृश निषेध जिसका फल हो'' यह विशेषण और लगा दें तो उपमेयोपमा के लक्षण के समस्त विशेषण व्यर्थ हो जायेंगे क्योंकि वही एक विशेषण सभी कमियों की पूर्ति कर देगा।

दूसरा आक्षेप यह है कि ''परस्पर की प्रतियोगिता सहित उपमा एक वृत्ति मात्र से बोधित होनी चाहिए'' यह कथन भी स्वत: अयुक्तिकर हो जायेगा क्योंकि ''खमिव जलम् जलमिव खम्'' इसमें आकाश और जल का सादृश्य के साथ अन्वय जो हो रहा है उसमें प्रतीति होने वाली प्रतियोगिता संसर्ग रूप है। अत: वह किसी वृत्ति से प्रतिपादित नहीं होती है। आलंकारिक नियमानुसार वृत्ति द्वारा ज्ञात होने वाले पदार्थों का संसर्ग वृत्ति द्वारा ही ज्ञात नहीं होता।

प्रथमत: उपमेय को द्वितीय वाक्य में उपमान एवं प्रथम उपमान को द्वितीय वाक्य में उपमेय बनाया जाता है। इसमें तृतीय सदृश की निवृत्ति होती है। क्योंकि औपम्य निर्वहन हेतु तृतीय पदार्थ की आवश्यकता पड़ती ही नहीं। ''कमलेव मर्तिमतिरिवकमला'' इस उदाहरण में काव्य का औपम्य निर्वहन कमला और मति तक ही सीमित रहता है और इससे आगे बढ़ ही नहीं पाता, अत: यहाँ उपमेयोपमालंकार होता है।

द्वितीयत: पण्डितराज ने ''अहं लताया सदृशीत्यादि'' उदाहरण में परस्पर की प्रतियोगिता सहित उपमा कृशता आदि एक कर्म से सिद्ध और अभिधा रूपी एक वृत्ति से बोधित कहकर दीक्षित जी के लक्षण को जो अतिव्याप्तिदोषदुष्ट कहा है वह भी तथ्यहीन ही है क्योंकि दो वस्तुओं में उपमानोपमेयभाव का यथा कथंचिद् पर्यायत: परिवर्तन मान भी लिया जाय तो भी यह उपमेयोपमा का उदाहरण नहीं बन सकता है क्योंकि इसका उद्देश्य उपमानान्तर तिरस्कार न होकर ''लता सादृश्य और तेरे समान'' में सादृश्य रूप संवेगों के कारण मन की भावना का प्रदर्शन है। साधारण धर्म की एकरूपता में उपमेयोपमा का दीक्षित जी का ''खमिवजलं जलमिव खम्'' उदाहरण द्रष्टव्य है। यहाँ स्पष्ट है कि सर्वत्र उपमेय और उपमान में विमलता का धर्म एकरूप ही प्रतीत हो रहा है।

साधारण धर्म की वस्तुप्रतिवस्तुरूपता की अवस्था में उपमेयोपमा का दीक्षित जी का ''सच्छायाम्भोज'' उदाहरण भी दर्शनीय है। पण्डित जी द्वारा उदाहृत यह सूक्ति 'रमणीयस्तवकयुता' भी विशेष रूप से ध्यातव्य है।

''खमिव जलं जलमिव खम्'' इस उदाहरण में पण्डित जी ने जो उपमेयोपमा का खण्डन किया है उस खण्डन का खण्डन नागेश भट्ट के शब्दों में दर्शनीय है- एक वृत्ति से बोधित होने का अर्थ है अन्य किसी वृत्ति से बोधित न होना। अत: इस उदाहरण में किसी प्रकार का दोष नहीं है। कारण यह है कि संसर्गों का बोध अन्य किसी वृत्ति से नहीं होता है। पण्डितराज ने उपमेयोपमा को उपमा का ही एक अवान्तर भेद माना है, पृथक् अलंकार नहीं। यह अन्यों से इनकी विलक्षणता है। परम्परानुसार उपमेयोपमा का लक्षण तथा प्रयोजन स्पष्टीकरण करने का श्रेय पण्डितराज की एक अद्भुत देन है। उन्होंने परमतखण्डन में अपने आग्रही स्वरूप का परिचय दिया है जो कि दीक्षित जी के प्रति जातिमत द्वेष इत्यादि के कारण स्फुट प्रतीति होती है। शास्त्र को आधार मानकर किया गया दोष दर्शन उनकी इसी दृष्टि का परिचायक है। उपमेयोपमा में वाक्य भेद पण्डितराज को भी मान्य है किन्तु लक्षण में समाविष्ट न होने से उसकी अनिवार्यता नहीं है।

अनन्वयालंकार

अर्थचित्रोपस्कारक अलंकारों में अनन्वय का तीसरा स्थान है। इसमें

एक ही पदार्थ की उपमा स्वयं उसी से की जाती है। अनन्वय शब्द की व्युत्पत्ति है-

''न विद्यते अन्वय: सम्बन्धा: उपमानान्तरेण यत्र सोऽनन्वय:'' अर्थात् किसी उपमेय का अपने से भिन्न किसी उपमान से साधारण धर्मत्व रूप सम्बन्ध का न रखना। निष्कर्ष स्वरूप हम कह सकते हैं कि अपने से ही अपनी उपमा रखना अनन्वय है। इसमें उपमेय के प्रति कवि की आस्था अत्यन्त दृढ़ होती है। अत: उपमेय के सदृश कवि अन्य किसी पदार्थ की कल्पना ही नहीं कर पाता है। उपमा का जहाँ सौन्दर्य साम्य की प्रतीति में है किन्तु अनन्वय का चमत्कार अन्य उपमानों से साधर्म्य सम्बन्ध के व्यच्छेद में है।

प्राचीन आचार्यों ने अनन्वय का लक्षण इस प्रकार किया-

''एकस्यैवोपमानोपमेयत्वेऽनन्वयो मत:।''[१]

अर्थात् जहाँ एक ही पदार्थ उपमान और उपमेय दोनों हो वहाँ अनन्वय अलंकार होता है। किन्तु यह अलंकार समुच्चय में भी घटित हो जाने से अतिव्याप्ति दोष ग्रस्त हो जाता है। लक्षण में एक पद के सन्निवेश से एक में ही उपमिति क्रिया में वैसा वर्णन होता है, फलस्वरूप इससे उपमेयोपमा के खमिवजलं जलमिव खम्'' इस उदाहरण में तथा रसनोपमा के भणितिरिवमति: मतिरिव चेष्टा इस उदाहरण में अतिव्याप्ति नहीं हो पाता है। कारण यह है कि एक ही उपमिति क्रिया का दोनों जगह अभाव है।

उदाहरण कथन से अनन्वय के दो प्रकार हैं। प्रतीयमान का उदाहरण जैसे-

''गगनं गगनाकारं, सागरम् सागरोपम:'' यहाँ एक ही गगन उपमानात्व और उपमेयत्व दोनों है। गम्भीरता और दारुणता रूपी धर्मों में वाच्यता के अभाव से प्रतीयमान धर्म की ही कवि को विवक्षा है।

निर्दिष्ट धर्म के उदाहरण जैसे-

न केवलं भाँति नितान्तकान्तिर्नितम्बिनी सैव नितम्बिनीव।

यावद् विलासायुधलास्यवासास्ते तद्विलासाइव तद्विलासा।।[२]

---

१. चित्रमीमांसा, पृ० १४७

२. वही, पृ० १७८

यहाँ ''वह नितम्बिनी अपने ही समान है और उसके हाव-भाव उसी के ही समान है। यह प्रतीति अनन्वय में उपमान्तर सम्बन्धाभाव की प्रतीति को व्यक्त करता है। अत: यहाँ अनन्वयालंकार है। यहाँ प्रकाशन रूप धर्म की शक्ति के द्वारा प्रतिपाद्ययत्व से निर्दिष्ट धर्मता है।

प्राचीनों के इस अनन्वय में दोष दिखलाते हुए दीक्षित जी अपने लक्षण को और अधिक स्पष्ट करने के उद्देश्य से और आगे बढ़ते हैं-

पितुर्नियोगाद्वनवासमेवं निस्तीर्य रामः प्रतिपन्नराज्यः।

धर्मार्थ कामेषु समं प्रपेदे यथा तथैवावरजेषु वृत्तिम्।।[१]

इसमें एक ही राम का उपमानत्व ओर उपमेयत्व भी है, किन्तु यहाँ अनन्वय नहीं। इसी प्रकार-

''त्यक्ष्यामि वैदेहसुतां पुरस्तात् समुद्रनेमिम् पितुराज्ञयेव''।

यहाँ भी राम का ही उपमानत्व एक ही उपमेयत्व दोनों ही हैं किन्तु दोनों ही उक्त उदाहरणों में द्वितीय सदृशनिषेध के तात्पर्य का अभाव होने से अनन्वयालंकार नहीं है। अब दीक्षित जी अपना अनन्वय का लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं-

''स्वस्य स्वेनोपमा या स्यादनुगाम्येकधर्मिका।

अन्वर्थनामधेयोऽयमनन्वय इतीरितः।।

यदि अनुगामी धर्म के आधार पर एकवस्तु की उपमा उसी वस्तु के साथ दी जाये तो वहाँ अन्वर्थक अनन्वय अलंकार होता है। दीक्षित के इस लक्षण में कोई दोष नहीं है।

स्व का स्व के साथ विशेषण से ''धर्मोऽर्थ इव पूर्णश्रीः'' इत्यादि उपमेयोपमा के इस उदाहरण में तथा ''भणितिरिव मतिः मतिरिव'' इत्यादि रसनोपमा के उदाहरण में अतिव्याप्ति दोष का निरसन हो जाता है। अनुगामी पद उपलक्षण परक है, उसी से दूसरे धर्म का ग्रहण की शुद्धता पूर्वक ही है न कि अन्य मिश्रित रूप में। इसी अर्थ को ज्ञापित कराने हेतु ही लक्षण में ''एकम'' पद का समावेश है। कुलयानन्द के लक्षण की तुलना में चित्रमीमांसा

१. चित्रमीमांसा, पृ० १५०

का लक्षण अधिक परिष्कृत और शुद्ध है।

''अन्वर्थनामधेयोऽयम'' इस विशेषण के समावेश से लक्षण का नियमन किया गया है। अर्थात् यदि ''स्व के साथ स्व'' की उपमा यदि अनुगतैक धर्मवती हो तभी अनन्वय होगा अन्यथा नहीं।

भामह के लक्षण ''यत्र तेनैव'' विशेषण इसलिए रखा गया है क्योंकि ''उभौ यदि व्योम्नि पृथक् प्रवाहौ'' इत्यादि में अनुपमानत्व द्योतन फल साम्य कल्पना वाली अतिशयोक्ति के इस उदाहरण में अतिव्याप्ति दोष का निराकरण हो। यह अनन्वय अलंकार व्यंग्य भी होता है इसे अलंकार से पृथक् करने हेतु दीक्षित जी का यह उदाहरण द्रष्टव्य है-

''अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते

कालेनैषा भवेत्प्रीतिस्तवैवागमनात्पुनः।''[१]

''गोविन्द ! आज आप मेरे घर आये तो मुझे आनन्द मिला। जब कुछ समय उपरान्त आप पुनः मेरे घर आओगे तो पुनः मुझे वही आनन्द मिलेगा। व्यंग्यार्थ यह है कि आपके आगमन से उद्भूत आनन्द की तुलना किसी दूसरे के आगमन से उत्पन्न हुए आनन्द से नहीं हो सकती। यहाँ अन्य सदृश निषेध व्यंग्य है। इसलिए ऐसे स्थलों में अनन्वयालंकार की अतिव्याप्ति रोकने के लिए अव्यंग्य विशेष को जोड़ दिया गया है। पण्डितराज जगन्नाथ यहाँ व्यंग्य नहीं मानते हैं। वह श्रीकृष्ण के दर्शन से उद्भूत आनन्द को अवर्णनीय बताते हैं और कहते हैं कि इसकी तुलना अन्यों से नहीं हो सकती है। उनके अनुसार व्यंग्य अनन्वय का उदाहरण इस प्रकार है-

त्वां कृत्वोपरतो मन्ये नूनं धाता स विश्वकृत।

नहि रूपोपमा त्वन्या तवास्ति जगतीतले।।[२]

''मेरा विचार है कि विधाता ने तुम्हारा निर्माण करने के पश्चात् विश्वनिर्माण का कार्य समाप्त कर दिया है। तभी तो विश्व में तेरे सदृश कोई सुन्दरी नहीं है।''

यहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार है, किन्तु भेदगर्भित सादृश्य का निषेध व्यंग्य

१. चित्रमीमांसा, पृ० १५३

२. वही, पृ० १५४

है। अत: यहाँ व्यंग्य अनन्वय है।

संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने अनन्वयालंकार का स्वतन्त्र विवेचन किया है किन्तु सभी ने एकमत से उपमेय का उपमान उपमेय को ही स्वीकृत किया है। आलंकारिकों के बीच केवल दो ही भिन्नता है- असादृश्य विवक्षा या उपमानान्तर व्यवच्छेद अर्थात् अनन्वय की परिभाषा में एक ही पदार्थ को उपमेय तथा उपमान मानने के अतिरिक्त असादृश्य विवक्षा का भी सन्निवेश होना चाहिए। पण्डितराज द्वारा दीक्षित का किया गया खण्डन ''अद्य या मम गोविन्द'' कृष्ण के आगमन से उत्पन्न प्रसन्नता रूपी उपमेय का उपमान भी प्रसन्नता ही है। चाहे वह इस आगमन से हो अथवा उस आगमन से। अन्य सदृश वस्तु के अभाव का प्रदर्शन तो स्पष्ट ही है। अत: पण्डितराज का दृष्टिकोण भेद ही पार्थक्य का कारण है। अत: दीक्षित जी के अनन्वयालंकार की व्याख्या उचित ही है। पण्डितराज जी का खण्डन न्यायोचित नहीं है। अनन्वय की ध्वनि का उदाहरण यह है-

'पृष्टाः खलु परपुष्टाः परितो दृष्टाश्च विटपिनः सर्वे।
भेदेन भुवि न पेदे साधर्म्यं ते रसालमधुपेन।।'[१]

यहाँ पर ''भेदेन'' इस उक्ति से ''अभेद में सादृश्य को पाया'' इस प्रकार की अनन्वयात्मक ध्वनि सिद्ध होती है। अप्पय दीक्षित के मत को अपनी हठधर्मिता से विश्लेषित करने का किया गया प्रयास सहृदयग्राही प्रतीत नहीं होता है। अनन्वय में वस्तुत: चमत्कार किसका होता है ? इस चमत्कार का आधार क्या होता है ? इन सबका गहन विश्लेषण पण्डितराज की ही देन है।

स्मरणालंकार

दीक्षित जी ने सर्वप्रथम प्राचीन आचार्यों का स्मरण लक्षण उद्धृत किया है-

स्मृतिः सादृश्यमूला या वस्वन्तरसमाश्रया।
स्मरणालंकृतिः सा स्यादव्यंग्यत्वविशेषिता।।[२]

१. चित्रमीमांसा, पृ० १५६
२. वही, पृ० २०९

जिसका मूल सादृश्य हो और जो किसी भिन्न वस्तु अर्थात् वह फिर सदृश हो अथवा असदृश के विषय में हो वह स्मृति अव्यंग्त्व विशेषण से युक्त हो अर्थात् व्यंग्य न हो तो स्मरणालंकार कहलाती है।

अर्थात् जब सादृश्य के आधार अन्य पदार्थ का स्मरण हो जाए और व्यंग्य न होकर वाच्य हो तो वहाँ स्मरणालंकार होगा उदाहरणार्थ-

अपि तुरगसमीपादुत्पतन्तं मयूरं
न स रूचिरकलापं वाणलक्ष्मीचकार।
सपदि गतमनस्कश्चित्रमाल्यानुकीर्णे।।
रतिविगलितबन्धे केशपाशेप्रियायाः।।[१]

अथवा-

दिव्यानामपि कृतविस्मयां पुरस्तादम्भस्तः।
स्फुरविन्दचारुहस्ताम्।।
उद्वीक्ष्य श्रियमिव कांचिंदुत्तरन्तीम्,
अस्मार्षी जलनिधि मन्थनस्यशौरिः।।[२]

यहाँ दोनों में ही सादृश्य आधारित किसी दूसरी वस्तु की स्मृति होना समानरूप से प्राप्त है। इसलिए सदृश वस्तु और सदृश वस्तु सम्बन्धिनी अन्य वस्तु, दोनों का संग्रह करने के लिए ही वस्त्वन्तर पद का ग्रहण किया गया है।[३]

''सौमित्रे ननु सेव्यतां तरूतलं चण्डांशुरूजृम्भते।
चण्डांशोर्निशि का कथा रघुपते चन्द्रोऽयमुन्मीलति।।
वत्सैतद्विदितं कथं नु भवता धत्ते कुरंगंयतः।
क्वासि प्रेयसि हा कुरंगनयने चन्द्रानने जानकि।।[४]

१. रसगंगाधर, पृ० २१८
२. वही, पृ० २१८
३. एकत्र सदृशदर्शनात्तत्सदृशधर्मिकास्मृतिः। इतरत्रसदृशदर्शनात्तत्सदृशीलक्ष्मीसम्बन्धिनी-जलनिधि-मन्थनस्य स्मृतिः। उभयत्रापि सादृश्यमूलकवस्त्वन्तरस्मृतित्वमविशिष्टम्। अतएव सदृशासदृश साधारण्यर्थतया लक्षणे वस्त्वंतरग्रहणमर्थवत्। चित्रमीमांसा, पृ० ५०
४. रसगंगाधर, पृ० २१८

यहाँ स्मृति व्यंग्य है और अलंकार्य है। अतः अलंकार्य होने से स्मरणालंकार का विषय नहीं है। इस प्रकार की स्मृति के व्यावर्तन हेतु अव्यंग्यत्व विशेषण दिया गया है।[१]

अत्युच्चाः परितः स्फुरन्ति गिरयः स्फुरस्तथाम्भोधय-
स्तानेतानपि विभ्रती किमपि न क्लान्तासि तुभ्यं नमः।।
आश्चर्येण मुहर्मुहः स्तुतिमिति प्रस्तौमि यावद्भुंव-
स्तावद्विभ्रदियां स्मृतस्तव भुजो वाचस्ततो मुद्रितां।। रसगंगाधर, २१८

यहाँ स्तुति किए जाते हुए भूमृत 'राजा' से सम्बन्धित स्मृति सादृश्य पर आधारित नहीं है अतः यहाँ स्मरणालंकार नहीं होगा। स्मृति रूप संचारीभाव राजा विषयक रतिभाव का अंग होने के कारण प्रेयोलंकार का विषय है, अतः सादृश्यमूला विशेषण दिया गया है।[२]

दीक्षित के मत से वैचित्र्य चित्रालंकार का आधायक है, किन्तु कहीं-कहीं वैचित्र्यहीन स्थितियों में भी स्मरण अलंकार मानते हैं। जैसे-

पंकजं पश्यतः कान्तामुखं मे गाहते मनः।[३]

यहाँ वैचित्र्य न होने पर भी दीक्षित जी ने स्मरणालंकार माना है, किन्तु यदि स्मृति व्यंग्य हो तब स्मरणालंकार नहीं होता है, जैसे-

सौमित्रे ननु सेव्यतां तरूतलं चण्डांशुरूजृम्भते।
चण्डांशोर्निशि का कथा रघुपते चन्द्रोऽयमुन्मीलति।।
वत्सैतद्विदितं कथं नु भवता धत्ते कुरंगेयतः।
क्वासि प्रेयसि हा कुरंगनयने चन्द्रानने जानकि।।[४]

१. अत्र श्रुतकुरंगसम्बन्धिनस्तन्नयनस्यं स्मरणात् तत्सदृशीसीतानयनस्मृतिस्तत्सम्बन्धि सीता-स्मृतिश्चेति किन्त्वेषा व्यंग्या, अलंकार्यभूता च। तद् व्यावृत्यर्थमव्यंग्यत्वविशेषणम्।। चित्रमी०, पृ० ५०

२. स्तूयमानभूसम्बन्धिनो भूभृद्भुजस्य स्मृतिर्न सादृश्यमूलेति नात्र स्मरणालंकारः। किन्तु स्मृतेः संचारीभावस्य भूभृद् विषयरतिभावांगत्वात्प्रेयोऽलंकारः। चित्रमी० पृ० ५०-५१

३. कुवलयानन्द, पृ० २६

४. महानाटक ४-२३, चित्रमी० पृ० १५७

इस विरहातुर राम की उक्ति में चन्द्रमुखी मृगलोचना, सीता की स्मृति व्यंग्य है, वाच्य नहीं। अतः यहाँ स्मरणालंकार न होकर स्मरण ध्वनि है।

पण्डितराज के मत से स्मरणालंकार यह है-

''सादृश्यज्ञानोद्बुद्धसंस्कारप्रयोज्यं स्मरणं स्मरणलंकार।''[१]

अर्थात् सादृश्य विषयक ज्ञान से जागृत संस्कार से प्रयोजित स्मरण ही स्मरणालंकार होता है। यहाँ प्रयोज्य पद देने का तात्पर्य यह है कि यत्किंचिद् सादृश्य बोध से उद्बुद्ध संस्कार के द्वारा प्रायोजित सादृश्य के साथ स्मर्यमाण वस्तु का सम्बन्धित होना आवश्यक नहीं है। जैसे-

एकीभवत्प्रलयकाल पयोधिकल्प-
मालोक्य संगरगतं कुरूवीरसैन्यम्।।
सस्मारतल्पमहिपुंगवकायकान्तं,
निद्रां च योगकलितां भगवान्मुकुन्दः।।

यहाँ समुद्र और योगनिद्रा तथा शेषशैय्या का वस्तुतः कोई आपातित सम्बन्ध न होते हुए भी समुद्र सादृश्य तल्पनिद्रा के प्रयोजक होने के कारण स्मरणालंकार है।

पण्डितराज ने दीक्षित के लक्षण की कटु आलोचना की है जो कि निम्नवत् है-

वस्त्वन्तर- पण्डितराज ने इसे अस्मरणीय बताया। वे कहते हैं कि ''सदृश और अदृश जलनिधि और केशपाश के लिए 'वस्त्वन्तर' का कथन व्यर्थ है क्योंकि सादृश्यमूला स्मृति स्मरणालंकार है। इतना कहने भर से ही केशपाश की स्मृति के समान जलनिध मन्थन की स्मृति का भी ग्रहण हो जाता है। मूलतः दोनों ही सादृश्याधारित ही हैं।

अव्यंग्य- इसी प्रकार पण्डितराज के मत से ''सौमित्रे ननु'' पद्य में स्मृति को व्यंग्य और अलंकार्य कहना भी उचित नहीं है। स्मृति अलंकार्य नहीं है अपितु विप्रलम्भ की उपस्कारिका होने से अलंकार है। व्यंग्य होते हुए भी अप्रधान रूप से अलंकार का विषय हो सकता है। ''अत्युच्चापरितः'' में

१. रसगंगाधर, पृ० २१६

जो स्मृतिरूप व्याभिचारीभाव राजविषयक रति का अंग है। वह प्रेयोलंकार है यह भी ठीक नहीं है क्योंकि प्रेयोलंकार वहीं होता है जहाँ एक दूसरे भाव का अंग होता है। यहाँ स्मृति भाव नहीं है। कारण यह कि स्मरतः पद से उसका अभिधान हो गया है इसमें मम्मटाचार्य का ''व्याभिचार्यचितो भावः'' प्रमाण है।[1]

अलंकारसर्वस्वकार का यह कथन भी प्रमाण है कि ''जिस स्मृति का उद्भव सादृश्य के अतिरिक्त किसी कारण से होता है वही स्मृति प्रेयोलंकार का विषय बनती है।''

वह स्मृति यदि शब्दतः कथित हो जाये तो प्रेयोलंकार का विषय नहीं होती है जैसे-

अत्रानुगोदं मृगया निवृत्तस्तरंगवातेन विनीतखेदः।

रहस्त्व दुत्संगनिषण्णमूर्धां स्मरामि वानीरगृहेषु सुप्तम्।।[2]

सादृश्यमूलक होने के कारण उपमा के समान ही समानधर्म के आधार पर इस अलंकार के विभिन्न भेद सम्भव प्रतीत होते हैं। उदाहरणार्थ-

१. अनुगामी धर्म का उदाहरण-

सन्त्येवास्मिन्जगति वहवः पक्षिणो रम्यस्पाः-

स्तेषां मध्ये मम तु महती वासना चातकेषु।

यैरध्यधैरथ निजसखं नीरदं स्मारयद्भिः

स्मृत्यारूढ़ं भवति किमपि ब्रह्म कृष्णाभिधानम्।।[3]

यहाँ श्यामत्व रूपधर्म अनुगामी है।

२. बिम्बप्रतिबिम्बभावयुक्त साधारणधर्म का उदाहरण-

भुजभ्रमितपरिदृशोद्दलित दृप्तदन्तावलं,

भवन्तपरिमण्डलकथन पश्यतः संगरे।।

१. काव्यप्रकाश, पृ० ९४

२. रसगंगाधर, पृ० २२०

३. वही, पृ० २०८

अमन्दकुलशाहतिस्फुटविभिन्नविन्ध्याचले,

न कस्य हृदयं झगित्यधिरूरोह देवेश्वरः।।[1]

यहाँ भूधर और दन्तावल में बिम्बप्रतिबिम्ब भाव है।

३. उपचरित धर्म होने पर-

क्वचिदपि कार्ये मृदुलं क्वापि च कठिनं विलोक्य हृदयं ते।

को न स्मरति नराधिप नवनीतं किं च शतकोटिम्।।[2]

उक्त में मृदुत्व धर्म आरोपित है।

४. केवल शब्दात्मक जैसे-

ऋतुराजं भ्रमरहितं यदाहमाकर्णयाभि नियमेन।

आरोहति स्मृतिपथं तदेव भगवान् मुनिव्यासः।।

इसमें 'भ्रमरहित' होना व्यास और बसन्त के प्रति साधारण धर्म है। इसके अतिरिक्त वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य भेद भी विचारणीय है।

यही अलंकार यदि प्रधानरूप से व्यंग्य होता है तो ध्वनि का विषय बन जाता है जैसे- 'इदं लताभिः......हृदयं हरेयुः'' यहाँ स्मरण व्यंग्य है।

स्मरणालंकार में सादृश्य सदा व्यंग्य रहता है। अतः उस सादृश्य का शब्दशः कथन होना इस अलंकार का प्रमुख दोष है। जैसे-

उपकारकमस्य साधोर्नैवाहं विस्मरामि जलदस्य

दृष्टेन येन सहसा निवेद्यते नवघनश्यामः।।[3]

यदि वहाँ ''नव घनश्यामः'' की जगह ''निवेद्यते देवकीतनयः कह दिया जाये तो दोष दूर हो जायेगा।

पण्डितराजकृत दीक्षित का प्रथम खण्डन युक्तिसंगत है, क्योंकि सादृश्यमूला कहने से सदृश एवं असदृश दोनों का ग्रहण हो जाता है। कारण यह कि मूलतः असदृश वस्तु का भी स्मरण सदृश दर्शन पर आधारित

१. रसगंगाधर, पृ० २२४

२. वही, पृ० २२४

३. वही, पृ० २२२

होता है।

"सैमित्रे" इत्यादि के उदाहरण में स्मृति को अप्रधान कहकर अप्पय-दीक्षित का मत दूषित करना अन्याय ही है एवं च अव्यंग्यत्व विशेषण भी इसलिए निरर्थक कहना चाहिए क्योंकि अलंकार सामान्य के लक्षण में ही उसका कथन हो गया है, अनुचित है क्योंकि इस पुनरुक्ति से व्यंग्यत्व का विशेष रूप से निषेध होता है। उसका विधान होने से मुख्य शर्त के रूप में वही ज्ञात होता है। अत: उसमें कोई दोष नहीं है।

तीसरी युक्ति 'अत्युच्चा: परित:' में स्मृतिभाव नहीं है, संचारी भाव है क्योंकि वह वाच्य है। यह सब केवल जातिगत विद्वेष से प्रेरित होकर कहा गया लगता है। अप्पय के कथन में मुख्य विषय प्रेयोलंकार का नहीं है, अपितु भूमृत् की स्मृति सादृश्यमूलक नहीं है, अत: यहाँ स्मरणालंकार नहीं है।

पण्डितराज ने सिंहशशक न्याय के आधार पर बिना किसी युक्तिसंगत आधार के दीक्षितीय मान्यता को दोषी सिद्ध किया है। विवेचन और विश्लेषण के दृष्टिकोण से महत्वहीन विषय को भी पण्डितराज ने अपने दर्पतोष हेतु विवेचित और विश्लेषित किया है। अपने अभिमान में पण्डितराज यह भी भूल जाते हैं कि इस शास्त्रार्थ में बल है या नहीं। स्मरण के कुछ भेदों का उल्लेख उनकी अन्यों से भिन्नता सिद्ध करती है।

❖

षष्ठ अध्याय

आरोपमूलक अभेद प्रधान अलंकारों की समीक्षा

रूपक

अभी तक पूर्व में जो भी अलंकार निरूपित किए गये वे सादृश्याधारित भेद प्रधान थे। अब अभेद प्रधान अलंकारों का निरूपण प्रारम्भ करते हुए रूपक आदि अलंकारों को उस कोटि में रखा गया है। इस कोटि के सभी अलंकारों में दो पदार्थों में अभेद समानरूप से विद्यमान रहता है और उसी अभेद का नाम रूपक है। वह रूपक अलंकार तक बनता है जब किसी इतर का उपस्कारक होता है।

पण्डितराजकृत रसगंगाधर में इसका लक्षण यूँ वर्णित है 'उपमेयतावच्छेदकपुरस्कारणोपमेये शब्दान्निश्चीयमानमुपमा, न तादात्म्यं रूपकम्। 'तदेवोपस्कारकत्वविशिष्टमलंकार:'[१] अर्थात् उपमेयतावच्छेदक के पुरस्कार से उपमेय में उपमान का शब्द द्वारा निश्चित किया गया अभेद (ताद्रूप्य) रूपक है। उसी 'रूपक' के उपस्कारक होने पर रूपकालंकार होता है। उदाहरणार्थ 'मुखचन्द्र:' इस उदाहरण में मुख उपमेय है और चन्द्र उपमान। मुख का मुखत्वेन उपादान कर चन्द्र का अभेदवर्णन ही रूपक है। इस अभेद प्रदर्शन की प्रतीति कहीं शब्द द्वारा कहीं विशेषण-विशेष्य के प्रति शब्दार्थ के रूप में होती है।

उपर्युक्त लक्षण का विश्लेषण करने पर अपह्नुति भ्रान्तिमान, अतिशयोक्ति और निदर्शना के निरसन हेतु ही, लक्षण में उपमेयतावच्छेदक पुरस्कारेण' विशेषण रखने से इसकी सार्थकता है। अर्थात् इन सबमें उपमेय का उपमेयरूप से कथन का निषेध होता है।

'शब्दात्' विशेषण देने का तात्पर्य यह है कि 'मुखमिदं चन्द्र:' इसका निरसन हो जाता है क्योंकि यहाँ रूपक का स्थल नहीं है अपितु कल्पनाजन्य अभेद निश्चय है तथा वह प्रत्यक्ष है।

१. रसगंगाधर, पृ० २२५

'निश्चीयमान' विशेषण के रख देने पर सम्भावना रूप ''नूनं मुखं चन्द्र:'' इस उत्प्रेक्षा के अभेद का निरसन हो जाता है। उपमान और उपमेय इत्यादि विशेषणों से ''सुखं मनोरमा रामा'' इत्यादि शुद्धारोप के विषयभूत तादात्म्य का निरसन हो जाता है।

अत: शब्द के द्वारा निश्चीयमान सादृश्यमूलक जो उपमान तादात्म्य है, वह रूपक है। सादृश्यमूलक आरोप कहने में मम्मट और दण्डी की उक्तियाँ भी प्रमाण हैं। मम्मट के अनुसार ''तद्रूपकमभेदो या उपमानोपमेययो:''[१] तथा दण्डी के अनुसार, ''उपमेय तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते''[२] कहकर रूपक का लक्षण किया गया है। मम्मट के अनुसार उपमान और उपमेय में जो भेद होता है वह रूपक है। इसका पण्डितराज ने जबर्दस्त खण्डन किया है। वे इसे अनुचित ठहराते हुए निम्न तर्क देते हैं।

१. उपमान और उपमेय के अभेद की प्रतीति निर्विवाद रूप से होने के कारण अपह्नुति में इस लक्षण की अतिव्याप्ति होती है।

२. अगर यह कहें कि उपमानतावच्छेदकावच्छिन्न के साथ उपमेय का अभेद होने से अपह्नुति में 'उपमेयतावच्छेद' विशेष का ग्रहण नहीं होता अत: विशेषण सार्थक है तो भी 'नूनं मुखं चन्द्र:' इस उत्प्रेक्षा में उसे भी अतिव्याप्ति हो जाती है क्योंकि मुखत्वरूप उपमेयतावच्छेदक के सम्मुख रखकर चन्द्रत्वविशिष्ट चन्द्र का भेद स्पष्ट ही है।

३. यदि यह कहें कि ''प्रकृतं यानिनेषिध्यान्यत्साध्यते सात्वपह्नुति:'' और ''सम्भावनममथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्यसमेन यत्'' यहाँ अपह्नुति और उत्प्रेक्षा के लक्षणों से विशेष कथन होने से रूपक के लक्षण द्वारा सामान्य रूप से कह गये अभेद का वारण हो जाता है। जैसे ''ब्राह्मणेभ्यो दधिदेयम्'' इसके समान ही अपह्नुति, उत्प्रेक्षा आदि रूप विशेष विधानस्पकरूप सामान्य विधान के व्यावर्तक हैं अत: यहाँ अतिव्याप्ति नहीं है।

शोभाकर मित्र के मत में—जहाँ भी इस प्रकार वर्णन हो कि दो भिन्न वस्तुओं की एक ही स्थान में स्थिति हो वहाँ रूपक होगा। ऐसा शोभाकर मित्र

१. काव्यप्रकाश, पृ० ३५७

२. रसगंगाधर, पृ० २२५

का कहना है। प्राचीनालंकारिकों का कहना है कि उपमान और उपमेय का ही अभेद रूपक होता है, कार्यकारण का नहीं, केवल दुराग्रह मात्र है।[१]

किन्तु पण्डितराज ने खण्डन करते हुए कहा कि यदि दो भिन्न वस्तुओं का एक स्थान पर होना मात्र ही रूपक माना जाय तो अपह्नुति आदि में भी रूपक मानना पड़ेगा।

विद्यानाथ ने इसकी प्रस्तुति इस प्रकार की है-

आरोपविषयस्य स्यादतिरोहितरूपिण:।
उपरज्जंकमारोप्यमाणं तद्रूपकं मतम्।।

प्राचीनों के इस निर्दुष्ट लक्षण में दीक्षित जी ने निम्न दोष निकाले हैं-

कुछ लोग ''आरोप विषयस्य'' के दो मत लेते हैं- विषय और विषयी से अभिहित उन दोनों के अभेद की प्रतिपत्ति ही आरोप है तथा विषय अर्थात् उपमेय के निगरण से विषयी के अभेद प्रतिपत्ति को अध्यवसाय मानते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य आचार्यगण तद्रूप्य प्रतिपत्ति को आरोप मानते हैं और उसके अभेद प्रतिपत्ति को अध्यवसाय।

अब प्रथम मत को स्वीकार किया जाये तो आरोप विषय का इससे उत्प्रेक्षा की व्यावर्त स्वीकार करना पड़ेगा और उत्प्रेक्षा की आरोपमूलत्व से वहाँ अतिव्याप्ति है ही। दूसरे मत को अंगीकार करने पर ''मुखं चन्द्र:'' इत्यादि में चन्द्र का जो 'रूपचन्द्रत्व' है उसी के द्वारा मुख की रूपवत्ता की प्रतीति से प्रसिद्ध चन्द्रमा से अभेद के अभाव से लक्षणा का समन्वय होगा। मुख विषय से 'चन्द्र:' इत्यादि अतिशयोक्ति में उन दोनों के अभेदत्व से अतिव्याप्ति नहीं है। यहाँ वैपरीत्य भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि वैपरीत्य से तात्पर्य है रूपक में अभेद की प्रतिपत्ति।

अतिशयोक्ति तादृप्य की प्रतिपत्ति भी कह सकते हैं। वहाँ भी उसकी कल्पना में भी विनिगमों का अभाव वहाँ प्रसिद्ध चन्द्रादि के अभेद प्रतिपत्ति

१. सादृश्यप्रयुक्त: सम्बन्धान्तरप्रयुक्तो वा यावन्भिन्नयो: सामानाधिकरण्य निर्देश: स सर्वोऽपि रूपकम्। सारोपलक्षणमूलकत्वस्य तुल्यत्वेन सादृश्यप्रयुक्तस्यं तादात्म्यस्येसम्बन्धान्तर-प्रयुक्तस्यापि तादात्म्यस्य संग्रहीतुमौचित्यात्। तस्मात् दुराग्रह एवायं प्राचाम् उपमानोपमेयो र भेदो रूपकम्, न तु कार्यकारणयो:।'' रसगंगाधर, पृ० २५५

के अभाव में भी उपात्तकल्पित जो अन्य चन्द्रादि हैं उसकी अभेद प्रतिपत्ति तो यहाँ है। इस शंका का समाधान करते हैं- कल्पित अपर चन्द्रादि के अभेद सिद्ध रूपक में भी यदि ऐसा कहेंगे तो लक्षण का असंभव दोष स्पष्ट होगा। इसलिए दोनों पक्षों में भी आरोप विषयस्य यह विशेषण दोष युक्त ही है। अतिरोहितरूपिण: यह विशेषण भी कम है। क्योंकि संदेह और भ्रान्तिमान में इससे यद्यपि अतिव्याप्ति दोष का निराकरण हो जाता है फिर भी अपह्नुति अलंकार में इस विशेषण से अतिव्याप्ति दोष का निरसन संभव ही नहीं है।

अप्पयदीक्षित लक्षण-

बिम्बाविशिष्टे निर्दिष्टे विषये यद्यनिह्नुते।
उपरज्जंकतामेति विषयी रूपकं तदा।।[1]

अर्थात् बिम्बप्रतिबिम्ब भाव से रहित शब्दत: उपात् अनिह्नुत विषय में जब विषयी का कल्पित अभेद हो तो रूपक होता है। इसका विशेषण निम्नवत् है-

१. बिम्बाविशिष्टे- इस विशेषण से यहाँ-

त्वत्पादनखरत्नानां यदलक्तकमार्जनम्।
इदं श्रीखण्डलेपेन पाण्डुरीकरणं विधो:।।[2]

इत्यादि निदर्शना के उदाहरण में अतिव्याप्ति चन्द्र और नख में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव होने से नहीं है।

२. निर्दिष्टे विशेषण से अतिशयोक्ति में अतिव्याप्ति नहीं होती है क्योंकि अतिशयोक्ति में विषय का विषयी के साथ निगरण होता है। इस विशेषण से व्यंग्यरूपक में भी अति प्रसंग वारित हो जाता है क्योंकि व्यंग्य होने पर भी वहाँ विषय का निर्देश रहता ही है।

३. अनिह्नुते- अपह्नुति में रूपक का लक्षण संगत नहीं होता है। अनिह्नुते का तात्पर्य है कि जिसका निषेध न किया जाये। निषेध और अपह्नुति में विषय का निर्देश रहता है परन्तु वह निषिद्ध रहता है।

१. चित्रमीमांसा, पृ० २१२
२. बिम्बाविशिष्ट इति विशेषणात् ''त्वत्पादनखरत्नानाम्'' इति निदर्शनायाम् अतिव्याप्ति।

४. उपरंजकतामेति- अर्थात् ''कल्पित अभेदद्य की निश्चयता को प्राप्त करता है।''

यह कहने से ससन्देह, उत्प्रेक्षा समासोक्ति, परिणाम, भ्रान्तिमान आदि में अतिव्याप्ति का वारण हो जाता है। यही रूपक जब अव्यंग्य होता है तो अलंकार होता है।[1]

पण्डितराज ने इसका सयुक्तिक खण्डन किया है- 'बिम्बाविशिष्टे' विशेषण देने से त्वत्पादनखरत्नानां इत्यादि निदर्शना के उदाहरणों में अतिव्याप्ति नहीं होती। पण्डितराज के मतानुसार यह कहना ही व्यर्थ है क्योंकि इस उदाहरण में रूपक है, न कि निदर्शना। यहाँ पण्डितराज ने श्रौतारोप रूपक स्वीकार किया है। इस पर विशद विवाद रसगंगाधर में द्रष्टव्य है।[2] अप्रासंगिक होने के कारण यहाँ दिया जाना उचित नहीं है।

अभिप्राय यह है कि जहाँ दीक्षित जी ने इस उदाहरण में निदर्शना माना वहीं पण्डितराज ने इसमें रूपक अलंकार स्वीकार किया है। अत: उसके वारणार्थ इस विशेषण की कोई आवश्यकता ही नहीं है।

निर्दिष्टे प्रयोग से दो दोष होते हैं- १. अतिशयोक्ति में अभिव्याप्ति, २. अनिहुत और आहार्य विशेषणों की व्यर्थता। अत: यह विशेषण भी व्यर्थ है। इसके अतिरिक्त निश्चय के लिए दिया गया आहार्य विशेषण की भी कोई उपयोगिता नहीं रह जायेगी। अपने लक्षण की पुष्टि के पश्चात् दीक्षित जी ने जो यह बात कही है कि 'अव्यंग्य' विशेषण देने से वही रूपक अलंकार का लक्षण हो जायेगा-वह भी अनुचित है। क्योंकि व्यंग्य होने से अलंकार होने में कोई बाधा नहीं होती है। शर्त सिर्फ इतनी है कि वह व्यंग्य अलंकार प्रधान न हो। प्रधान होने पर वह उपस्कार न होकर उपस्कार्य हो जायेगा।

रूपक के भेद : रूपक आठ प्रकार का होता है। प्रथमत: वह तीन प्रकार का होता है- १. सावयव, २. निरवयव, ३. परम्परित।

सावयव रूपक पुन: दो प्रकार का होता है- १. समस्त वस्तु विषय, २. एकदेश विवर्ति रूपक।

१. चित्रमीमांसा, पृ० ५६, ५७
२. रसगंगाधर, पृ० २२६, २२७

निरवयव रूपक के दो भेद होते हैं- १. केवल निरवयव, २. मालारूप निरवयव रूपक। परम्परित रूपक के पहले दो भेद होते हैं- १. श्लिष्ट, २. शुद्ध। पुनः श्लिष्ट रूपक के दो भेद होते हैं- १. केवल, २. माला। इसी प्रकार शुद्ध परम्परित रूपक के दो भेद होते हैं- १. केवल २. माला। इसे इस तालिका से भी समझा जा सकता है।[१]

अब इनका एक-एक करके विस्तृत विवेचन अपेक्षित है जो कि अग्रलिखित है-

सावयव रूपक- ''परस्पर सापेक्ष निष्पत्तिकानां रूपकाणां संघातः सावयवम्'' अर्थात् परस्पर सापेक्ष रूप से निष्पन्न होने वाले रूपकों का समूह ''सावयव'' रूपक होता है।[२]

क. समस्त वस्तु विषयक- ''समस्तानि वस्तुन्यारोपमाणानि शब्दोपात्तानि यत्र तत्समस्तवस्तुविषयम्'' अर्थात् जहाँ भी आरोप्यमाण वस्तुएँ उपमान शब्द से कथित हो वहाँ समस्त वस्तु विषय वाला भेद रूपक होता है।[३] उदाहरणं यथा-

सुविमल मौक्तिकतारे धवलांशुक चन्द्रिका चमत्कारे।
वदनपरिपूर्णचन्द्रे सुन्दरि राकासि नात्र सन्देहः।।[४]

इस पद्य में मुक्तावली, तारावली, धवल वस्त्र और चन्द्रिका मुख और पूर्णचन्द्र इन सभी में रूपक है तथा परस्पर सापेक्ष है। समस्त रूपकों में उपमान का ग्रहण शब्दतः किया गया है। अतः यह समस्त वस्तुविषयक है।

ख. एकदेशविवर्ति सावयव रूपक- ''एकदेशविवर्ति यत्र च क्वचिद-वयवेशब्दोपात्तमारोप्यमाणंक्वाचिदर्थसामर्थ्याक्षिप्तं तदेकदेशे शब्दानुपात्तविषयिके अवयवरूपके विवर्तनात्स्वस्वरूपगोपनेनान्यथात्वेनवर्तनादेकदेशविवर्त्ति।''[५] अर्थात् जहाँ कुछ आरोप्य माण अवयव ''अंग'' शब्दों से उपस्थिति हो और कुछ

१. रसगंगाधर - एक समीक्षात्मक अध्ययन, पृ० १८२
२. रसगंगाधर, पृ० २३१
३. वही
४. वही
५. वही

अर्थ सामर्थ्य से आक्षिप्त किये जाये तो वहाँ उस अवयवभूत एक देश में, जिसमें विषय शब्द से उपात्त रहता है। विवर्तन के कारण (विरुद्ध रूप से रहने के कारण) अर्थात् स्वरूप गोपन करके अन्यथात्वेन वर्तमान रहे वहाँ एकदेश विवर्ति रूपक अलंकार होता है।

उदाहरणं यथा-

भवग्रीष्मप्रौढ़ातपनिवहसन्तप्तवपुषो।
बलादुन्मूल्यादांग निंगडमविवेकव्यतिकरम्।।
विरुद्धेऽस्मिन्नात्मा भृतसरसिनैराश्यशिशिरे।
विगाहन्ते दूरीकृतकलुषजालाः सुकृतिनः।।[१]

इसमें निगडादि वर्णित रूपकों से सुकृतियों में गज का अभेद भी आक्षिप्त हो जाता है अतः एकदेशविवर्ति है।

निरवयव रूपक :-

''बुद्धिर्दीपकला लोके यथा सर्वं प्रकाशते।
अबुद्धिस्तामसी रात्रिर्यया किञ्चिन्न भासते।।[२]

यहाँ दो रूपकों को एक साथ अनाकांक्षिप्त होने पर भी निरवयव रूपक है। यहाँ बुद्धि का दीपक के साथ एकरूपक तथा बुद्धि का रात्रि के साथ दो रूपक स्वतंत्र है। एक के बिना दूसरे की असिद्धि नहीं है। अतः निरपेक्ष होने से निरवयव है और मालात्मकता के अभाव में केवल निरवयव है।

मालानिरवयव :-

धर्मस्यात्मा भागधेयं क्षमायाः सारः सृष्टेजीवितं शारदायाः,
आज्ञा साक्षात् ब्रह्मणो वेदमूर्तेराकल्पान्तं राजतामेष राजा।।[३]

उक्त उदाहरण में एक ही विषय पर नानाविध पदार्थों का आरोप होने

१. रसगंगाधर, पृ० २३२
२. वही, पृ० २३३
३. वही

से यह माला रूप है तथा परस्पर आकांक्षा न होने से निरवयव है।

परम्परित रूपक :- ''यत्र आरोपएवारोपान्तरस्य निमित्तं तत्परंपरितम्, तत्रापिसमर्थकत्वेनविवक्षितस्यारोपस्यश्लेषमूलकत्वेश्लिष्टापरपरितम्।''[1]

अर्थात् जहाँ एक आरोप ही दूसरे आरोप का कारण हो वहाँ पर परम्परित रूपक होता है। उसमें भी समर्थक रूप से अभिप्रेत आरोप श्लेष मूलक होता है तब वह श्लिष्ट परम्परित कहलाता है।

केवलश्लिष्ट परम्परित :- ''अहितापकरणभेषजनरनाथ....मेदिनीं चरतः।''[2]

यहाँ ''अहितापकरण'' में सभंग श्लेष है।

मालारूप श्लिष्ट परम्परित :- जैसे- ''कमलावासकासारः....मानवान्।''[3]

इसमें कमला का वास है, कमलों का आवास है, तत्कृत का सार इस प्रकार सर्वथा परम्परित है।

शुद्ध परम्परित का केवल रूप :-

देवाः के पूर्वदेवाः समिति मम नरः सन्तिके वा पुरस्ताद्।

मुग्धारिप्राणदुग्धाशनमसृणरुचिस्त्वत्कृपाणोभुजंगः।।[4]

यहाँ भुजंग का आरोप दुग्धारोप के प्रति सामर्थ्य रूप से कार्य का अभिप्रेत है।

शुद्ध परम्परित माला रूपक :-

प्राचीसन्ध्यासमुद्यन्महिमदिनमणेमनि......शेणिमश्रीः।।[5]

यहाँ श्लेषभाव के कारण यह शुद्ध है तथा प्रतापादि में सूर्य के आरोप के कारण अरुणता की शोभा में सन्ध्या आदि अनेक पदार्थों का आरोप हुआ है। अतः माला रूप है।

---

१. रसगंगाधर, पृ० २३३
२. वही
३. वही
४. वही, पृ० २३४
५. वही

सावयव और परम्परित रूपक में भेद :-

जहाँ सावयव रूपक में एक आरोप दूसरे आरोप का उपाश्रय होता है वहीं परम्परित में एक आरोप ही दूसरे आरोप का कारण होता है। इसी सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का कहना है कि सावयव में जहाँ दो से अधिक आरोपों का समूह होता है वहीं परम्परित रूपक में मात्र दो ही आरोप होते हैं। पण्डितराज ने इस पर कोई टिप्पणी नहीं की है। अभी तक जो भी भेद गिनाये गये वे सभी पदार्थ रूपक के भेद हैं, अर्थात् उन सबमें एक पदार्थ में दूसरे का आरोप है। अन्य आधार पर भी इसके भेद इस प्रकार हैं।

वाक्यार्थ रूपक :-

जिसमें सम्पूर्ण वाक्यार्थ ही उपमेय हो और उस पर किसी अन्य वाक्यार्थ का आरोप किया जाये तो वहाँ वाक्यार्थ रूपक होता है। यथा-

आत्मनोऽस्य तपोदानैर्निर्मलीकरणं हि यत्।

क्षालनं भास्करस्येदं सरसैः सलिलोत्करैः।।[1]

यहाँ निर्मलीकरण में क्षालन का आरोप रूप प्रधान रूपक जिस प्रकार वाच्य है उसी प्रकार बिम्बभूत आत्मा, तप, दान आदि में प्रतिबिम्बिभूत भास्कर सलिलोत्करादि का आरोपरूप अंगभूत रूपक व्यंग्य है।

साधारण धर्म के आधार पर रूपक के भेद :-

रूपक का साधारण धर्म भी उपमा के ही समान कहीं अनुगामी कहीं युक्त कहीं उपचरित और कहीं केवल शब्द रूप होता है। कहीं शब्दतः अनुगामी धर्म शब्दतः उपात्त जैसे-

जडानन्धान्पंगून् प्रकृतिबधिरानुक्तिविकला-

न्ग्रहग्रहस्तानस्ताखिलदुस्तिनिस्तारसरणीन्।

निलिम्पैर्निर्मुक्तानपि च निरयान्तनिर्पततो,

नरानम्ब त्रातुं त्वमिहपरमं भेषजमसि।।[2]

---

१. रसगंगाधर, पृ० २३८
२. वही, पृ० २४३

यहाँ ''त्रातुम्'' तुमुन्नन्त पद से उपात्त जडान्धादि का भावरूप साधारण धर्म भेषज और भागीरथी में अनुगामी है।

अनुगामी के अयुक्त रहने पर-

समृद्धं सौभाग्यं सकलवसुधाया: किमपित-
न्महैश्वर्यं लीलाजनितजगत: खण्डपरशो:।
श्रुतीनां सर्वस्वं सुकृतमथ मूर्तं सुमनसां।
सुधासाम्राज्यं ते सलिलमशिवं न: शमयतु।।[१]

इसमें सौभाग्य और भागीरथी में स्वभाव से ही व्यापक दुर्भाग्यत्व और परमोत्कर्षाधायकत्व आदि अनुपात्त हैं। अत: इसके कारण प्रतीयमान धर्म है। उपचरित होने पर जैसे-

अविरतं परकार्यकृतां सतां मधुरिमातिशयेन वचोऽमृतम्।
अपि च मानसमम्वु निधिर्यशो विमलशारदचन्दिरचन्द्रिका।।[२]

यहाँ अम्बु निधि आदि में गाम्भीर्य आदि का शब्दत: कथन नहीं है।

केवल शब्दात्मक :-

अंकितान्यक्षसंघातै: सरोगाणि सदैव हि।
शरीरिणां शरीराणि कमलानि न संशय:।।[३]

हेतुरूपक :-

साधारण धर्म के युक्ति रूप से कथित होने पर हेतु रूपक होता है जैसे-

पंचशाख: प्रभोयस्ते शाखा सुरतरोरसौ।
अन्यथानेन पूर्यन्ते कथं सर्के मनोरथा:।।[४]

१. रसगंगाधर, पृ० २४३
२. वही, पृ० २४४
३. वही
४. वही

रूपकध्वनि :-

उक्त अभेद के प्रधान रूप से व्यंग्य होने पर रूपक ध्वनि रूप होता है जैसे-

शब्दशक्तिमूल ध्वनि यथा-

अविरल विकलद्वेदानोदकधारासारसिक्त धरणितल:।
धनदा ग्रामहितमूर्तिर्देवत्वं सार्वभौमोऽसि।।[१]

यहाँ विशेष्य और विशेषण दोनों में ध्वनि है।

अर्थशक्तिमूल :-

तिमिरं हरन्ति हरितां पुर: स्थितं।
तिरयन्ति तापमय तापशालिनाम्।
वदनात्विषस्तव चकोरलोचने।
परिमुद्रयन्ति सरसीरूहश्रिय:।।[२]

इस पद्य में रूपक कुमुदाविकास आदि से ध्वनित होता है।

रूपकगतदोष :-

यहाँ भी कवि सम्मति के विरुद्ध चमत्कारापकर्षक लिंग भेद आदि दोष होते हैं।

बुद्धिरब्धिर्महीपाल यशस्ते सुरनिम्नगा।
कृतयस्तु शरत्काल चारुचन्दिरचन्द्रिका।।[३]

यहाँ विषय और विषयी में लिंगादि का वैलक्षण्य उनके अभेद बोध के प्रतिकूल है। कहीं यह दोष नहीं भी होता है जैसे-

सन्तापशान्तिकारित्वाद्वदनं तव चन्द्रमा:।

समीक्षोपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उपमा के अनन्तर सर्वोत्कृष्ट समन्दृत अलंकार यदि है तो वह है रूपक। रूपक का अर्थ अभेद

१. रसगंगाधर, पृ० २४६
२. वही
३. वही

मानने में किसी को कोई भी दुराव नहीं है। हाँ वह अभेद किस-किस में हो तथा किस प्रकार का हो इसे लेकर विद्वानों में सूक्ष्म मतभेद भले ही हों।

रूपक के स्वरूप और भेद को लेकर पण्डितराज ने किसी न्यूनता को जन्म नहीं दिया किन्तु जिस सूक्ष्म दृष्टि से प्रत्येक अंश को विश्लेषित करते हुए निकृष्ट सिद्धान्त मूलतत्व को पुरस्कृत करते हुए निर्मल रूप में प्रस्फुटित किया वही इनकी प्रतिष्ठा का कारण बना। एक तरफ रूपक को सादृश्य मूलक प्रमाण मानने में जहाँ मम्मट को प्रमाण माना वहीं तुरन्त उनके लक्षण का खण्डन करके आलोचक भी हो गये।

जहाँ तक दीक्षित के खण्डन की बात है वह पण्डितराज ने सर्वत्र दीक्षित जी का खण्डन, खण्डन-बुद्धि से ही किया है। दीक्षित जी के विशेषणों का खण्डन करते समय बिम्बाविशिष्टे विशेषण का खण्डन मुख्य रूप से न करके एक विशेष उदाहरण में निदर्शना है कि नहीं इस पर तर्क करने लगे। अंत में इस पद्य में कुछ परिवर्तन करके निदर्शनानुकूल बनाकर बात को समाप्त किया। पण्डितराज अनेकश: बार इस दोष से ग्रस्त दिखलाई पड़ते हैं। यही कारण है कि रसगंगाधर की गुरुमर्मप्रकाश टीका में नागेशभट्ट जी ने पण्डितराज के मत को दोषी बताकर दीक्षित जी के मत का ही समर्थन किया।[१] अत: दीक्षित जी का ही मत रमणीय है। उसका पण्डितराज द्वारा किया गया खण्डन बुद्धि विलास मात्र है और कुछ नहीं।

परिणाम अलंकार :

संस्कृत के अलंकार शास्त्र में परिणाम अलंकार का भिन्न दो पद्धतियों पर विवेचन हुआ है। एक का आधार सामानाधिकरण्य है तो दूसरे का

१. आहार्य्यत्व विशेषणस्य निर्दिष्टे इति विशेषणलब्धार्थ कथन तात्पर्यकरत्वात्। अतिशयोक्तौ लक्षणमाहात्म्याज्जायमानज्ञानस्यानाहर्यस्यैव जायमानत्वेन तावतैव वारणात् शक्यतावच्छेदक-लक्ष्यतावच्छेदकयोयर्निर्मित त्वल्लिखितमतान्तरेऽपि युगपदेवोभयोर्भानेन वाअस्यवानु-पस्थिततत्वान्न तद्बुद्धेराहार्यत्वम्। किञ्च चन्द्रवृत्ति गुणस्य लक्ष्यतावच्छेदक चन्द्रत्वस्य च मिथो विरोधाभावेन न वाघप्रतिसन्धानम्। मुखत्वेन मुखं लक्ष्यत इति त्वश्रद्धेयमेव। रूपके तु वाधस्य स्फुटमुपस्थिततत्वेन साक्षात् व्यञ्जनयावा जायमाना ताद्रूप्यप्रतिपत्ति-रार्थेवेति दीक्षिताशय इति दिक्। रस (गुरु मर्म०), पृ० २२८

वैयधिकरण्य। सामानाधिकरण्य में विषयी और विषय में विभक्ति भेद नहीं होता है। वहीं दूसरी ओर वैयधिकरण्य में विषयी और विषय में विभक्ति भेद होता है। इस अलंकार की प्रथम उद्भावना का श्रेय आचार्य रूय्यक को है। काव्य प्रकाश की उद्योत् नामक टीका में नागेश तथा विश्वेश्वर ने अलंकार कौस्तुभ में इसके स्वतंत्र अस्तित्व का खण्डन किया किन्तु वे असफल रहे।

अर्थ चित्रोपस्कारक अलंकारों में परिणाम का भी महत्व न्यून नहीं है। इसके विवेचन में श्री दीक्षित जी अलंकारसर्वस्वकार रूय्यक के मत को सामने रखते हैं-

''आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणाम:।''[१]

अर्थात् यदि उपमान प्रकृतकार्य का उपयोगी हो तो परिणाम अलंकार होता है रूपक और परिणाम का मुख्य भेद यह है कि रूपक में उपमान उपमेय पर आरोपित होता है और परिणाम में उपमान के रूप में उपमेय परिणत हो जाता है। परिणाम में आरोप्यमाण की सार्थकता उपमेय के रूप में होती है। उपमान के रूप में नहीं और रूपक में वह उपमान के ही रूप में ही सार्थक रहता है। केवल उपमेय से अभिन्न रहता है।[२]

पण्डितराज ने रूय्यक के उक्त मत का खण्डन किया है कि उसमें अनौचित्य को सिद्ध करने के लिए सर्वप्रथम जो युक्ति दी वह यह है कि लक्षण में आरोप्यमाण का प्रकृत में उपयोग कहने से वास्तव में तात्पर्य क्या है ? प्रकृत कार्य को आरोप्यमाण का उपयोग अथवा प्रकृत विषय उपमेय के रूप में आरोप्यमाण का उपयोग ? यदि प्रथम तात्पर्य को माने तो अलंकार सर्वस्व में दिए गये रूपक के उदाहरण में परिणाम अलंकार का लक्षण चला जाता है। जैसे-

दासे कृतागसि भवत्युचित: प्रभूणां,
पादप्रहार इति सुन्दरि ! नास्ति दूये।।

१. चित्रमीमांसा, पृ० १९१
२. अलङ्कार सर्वस्व, पृ० ५३

उद्यत्कठोरपुलकाङ्कुरङ्कष्टग्रै-

र्यत्खिद्यते तवपदं ननु सा व्यथा मे।।[1]

यहाँ लक्षण की अतिव्याप्ति हो रही है। यदि द्वितीय अर्थ को स्वीकार करें तो इस उदाहरण में-

''अथ पक्तिमतानुपेयिवद्भि......तत्परतस्तुरंगमाद्यैः।।[2]

यहाँ इस व्यधिकरण परिणाम के उदाहरण में लक्षण की असंगति हो जायेगी। अप्पय दीक्षित ने चित्रमीमांसा में विद्याधर के दिये गये उदाहरण को दोष सिद्ध किया और वहीं पण्डितराज ने उसे न्यायोचित ठहराया। विद्याधर का श्लोक निम्नवत् है-

नरसिंह! धरानाथ के वयं तव वर्णने।

अपिराजानमाक्रम्य यशो यस्य विजृम्भते।।

यहाँ विद्याधर ने ''राज'' पद से चन्द्ररूप विषय की उपस्थिति को स्वीकार किया है तथा आरोप्यमाण विषयी का आक्रमण रूप कार्य में उपयोग होता है। अतः इस प्रतीति के कारण परिणाम अलंकार यहाँ व्यंग्य होता है, किन्तु दीक्षित के मतानुसार यहाँ आरोप्यमाण नृप का नृपत्वेन ही आक्रमण के प्रति उपयोग है, चन्द्रत्वेन नहीं।[3]

इसका खण्डन करते हुए पण्डितराज ने कहा कि विषयी के रूप में व्यंग्यमान नृप का भी चन्द्रात्मना ही उपयोग होता है अर्थात् विषय रूप में ही विषयी का उपयोग होता है अतः विद्याधर के उक्त उदाहरण में कोई दोष नहीं है।

पण्डितराज के मतानुसार परिणामालंकार का निम्न लक्षण है-

''विषयी यत्र विषयात्मतयैव प्रकृतोपयोगी न स्वातन्त्र्येण स परिणामः''[4] अर्थात् जहाँ विषयी विषयतया ही प्रकृत का उपयोगी होता है वहीं परिणाम

१. अलङ्कार सर्वस्व, पृ० ६४

२. चित्रमीमांसा, पृ० ६८

३. रसगंगाधर, पृ० २४८

४. रसगंगाधर, पृ० ३३२-३३३ (रूय्यक का सम्पूर्ण मत)

होता है। परिणाम अलंकार में विषयी में विषय का अभेद होता है जबकि रूपक में विषम में विषयी का अभेद होता है। अतः दोनों परस्पर पृथक्-पृथक् हैं, एक नहीं हैं। उदाहरणार्थ-

अपारे संसारे विषमविषयारण्यसरणौ,

मम् भ्रामं भ्रामं विगलितविरामं जडमतेः।।

परित्रान्तस्यायं तरणितनयातीर निलयः

समन्तात्सन्तापं हरिभवतुमालस्तिरयतु।।[1]

इस उदाहरण में तमाल है विषयी और भगवान् है विषय। तमाल की उपयोगिता उसको हरि के रूप में ग्रहण करने पर ही हो सकती है, अतः विषयी का विषय में अभेद है। अन्य आलंकारिकों के मतानुसार परिणाम अलंकार दो प्रकार का होता है-१. आरोप्यमाण परिणाम, २. विषय परिणाम।

आरोप्यमाण परिणाम वहाँ होता है जहाँ विषय की उपयोगिता विषय के रूप में न होकर आरोप्यमाण से अभिन्न रहती है वहाँ आरोप्यमाण परिणाम होता है जैसे-

''वदनेनेन्दुना तन्वी शिशिरीकुरुते दृशौ'' यहाँ है।

जहाँ आरोप्यमाण स्वतन्त्र रूप से प्रकृत कार्य के प्रति उपयोगी न हो बल्कि विषय से अभिन्न होकर ही उसका उपयोगी हो वहाँ विषय परिणाम होता है। जेसे- वदनेनेन्दुना तन्वी स्मरतापं विलुम्पति किन्तु यह रूपक में दो प्रकार का है। इसीलिए तो मम्मट ने उपमान और उपमेय का अभेद ही रूपक है यह कहा है। अतः परिणाम अलंकार रूपक अलंकार से पृथक् कोई अलंकार नहीं है।[2]

यहाँ नागेश की टीका के अनुसार ''केचिद्वदन्ति'' से यह विदित होता है कि पण्डितराज की इस मत के साथ सहमति नहीं है। रूपक में परिणाम का अन्तर्भाव उचित नहीं है।

''केचिद्वदन्तीत्याभ्याम् रुचिः सूचिता। चमत्कृतिनिदानत्वेन अलंकारभेद

१. रसगंगाधर, पृ० २५२

२. वही

इति सिद्धान्तनादन्यत्रे वात्रापि भेद एवोचित इति।''[1]

परिणाम अलंकार सामानाधिकरण्य में और व्यधिकरण के भेद से दो प्रकार का होता है। सामानाधिकरण्य पुनः वाक्यगत और समासगत भेद से दो प्रकार का होता है। उपमा और उपमेय में समान विभक्ति का प्रयोग होने पर सामानधिकरण्य और भिन्न विभक्तियों का प्रयोग होने पर व्यधिकरण्य समास होता है। पूर्वोक्त उदाहरण ''अपारे संसारे'' हरिनवतमाल यह पद उपमानोपमेय का समासगत रूप है और विग्रह करने पर दोनों में समान विभक्ति है अतः समानाधिकरण्य है।

समासगत सामानाधिकरण्य का उदाहरण है जैसे-

महर्षेर्व्यासपुत्रस्य श्रावंश्रावं वचः सुधाम्।
उप ''अभि'' मन्युसुतो राजा परां मुदमाप्तवान्।।[2]

व्यधिकरण परिणाम का उदाहरण-

अहीनचन्द्रा लसताननेन ज्योत्स्नावती चापि शुचिस्मितेन।
एषा हि योषा सितपक्षदोषा तोषाय केषाम् न महीतलेस्यात्।।

इसमें युवती पर शुक्ल पक्ष की रजनी का आरोप किया गया हैं। तद्रूपेण वह प्रकृत विषय विरही जनों के संतोष के लिए होना चाहिए। अतः यह वाधित है, अतः उसका योषा रूप ही इसके लिए उपयोगी है अतः परिणाम अलंकार है।

अप्पय दीक्षित ने सामानाधिकरण और व्यधिकरण्य अलंकार बतलाकर व्यधिकरण्य का निम्न उदाहरण दिया है–

तारारूपकशेखराय जगदाधाराय धारोधरः।
च्छायाधारक कन्धराय गिरिजासंगैकशृंगारिणे।
नद्या शेखरिणे दृशा तिलकिनें नारायणेंमास्त्रिणे।
नागैः कंकणिने नगेन गृहीणे नाथाय सेयं मतिः।।[3]

१. रसगंगाधर, पृ० २५२
२. वही, पृ० २४९
३. चित्रमीमांसा, पृ० ६७

इसमें नदी और नयन रूप विषयों में जो विभक्ति है वह शेखर और तिलकी रूप विषयिणों में नहीं है अतः वैयधिकरण्य है।

पण्डितराज के मत से यहाँ परिणामालंकार मानना उचित नहीं है क्योंकि विषय से अभिन्न होकर विषयी का भान यद्यपि यहाँ होता है परन्तु वह उस रूप में उपयोगी नहीं है। अतः पूर्ण लक्षण का समन्वय न होने से यहाँ परिणाम नहीं है।

इसी तरह दूसरे उदाहरण में–

द्विर्भावः पुष्पकेतोर्विवुधविटपिनां पौनरूक्तां विकल्प-
न्नान्दं कोविदानां जगति विजयते श्रीनृसिंहइ क्षितीन्द्रः।[1]

इसमें राजा रूप विषय का व पुष्प केतु आदि विषयिणो का विभक्ति भेद है अतः वैयधिकरण्य है। इसमें भी पण्डितराज ने परिणाम नहीं माना है। यहाँ विषयों का विषय से अभिन्न रूप में बोध होने पर भी तद्रूपेण उपयोग नहीं है।

परिणाम अलंकार की ध्वनि :–

परिणाम प्रमुख रूप से व्यंग्य होता है वह परिणाम ध्वनि का विषय होता है वह परिणाम ध्वनि शब्द बल से होने पर शब्द शक्ति मूला तथा अर्थ बल से होने पर अर्थशक्ति मूला होती है। शब्द शक्ति मूला यथा :-

पान्थ मन्दमते किं वा सन्तापमनुविन्दसि।
पयोधरं समाशास्वं येन शान्तिमवाप्नुयाः।।[2]

अर्थशक्तिमूला यथा :-

इन्दुना परसौन्दर्य सिन्धुना वन्धुना बिना।
ममायं विषमस्तापः केन वा शमयिष्यते।।[3]

१. चित्रमीमांसा, पृ० ६७
२. रसगंगाधर, पृ० २५६
३. वही, पृ० २५५

अप्पय दीक्षित ने अपने मतानुसार परिणाम ध्वनि का निम्न उदाहरण दिया है:-

''चिराद्विषहसे तापं चित्तं चिन्तां परित्यागा:।

नन्वसि शीतल: शौरे: पादाब्जनखचन्द्रमा:।।[१]

''अत्र चिरतापार्तं प्रति हरिपादाब्जनखचन्द्रसद्भावप्रदर्शनेन तमेव, तन्निवेषवणादयं ताप: शान्तिंमेष्यतीति परिणामों व्यज्यते।।''

''पण्डितराज ने इसका खण्डन करते हुए कहा कि ''उसके सेवन से यह तेरा ताप शान्त हो जायेगा'' यह प्रकृत के प्रति उपयोगिता व्यंग्य होती है तथापि उसके अवच्छेदक विषयी में विषय अभेद का कथन शब्दत: हुआ हैं। अर्थात वह वाच्य है अथवा वाच्य से सम्बन्धित है। इस दशा में उसे ध्वनि का स्थल मानना बिल्कुल ही अनुचित है।

परिणामालंकार में भी रूपक के समान दोनों को लिंग, वचन आदि के भेद से समझ लेना चाहिए। यदि वह भेद कवि समय प्रसिद्ध हो तो दोष नहीं होता।

समीक्षा :-

रूय्यक, दीक्षित आदि के द्वारा मान्य किन्तु सम्मट के द्वारा अनिरूपित परिणामालंकार का पण्डितराज ने विशद विवेचन प्रस्तुत किया। अत: इनकी स्वतंत्र सत्ता पण्डितराज एवं दीक्षित को मान्य हैं। नागेश भट्ट द्वारा भी इसे स्वतंत्र अलंकार माना गया है। पण्डितराज ने इसका विशद वर्णन प्रस्तुत किया वहीं अन्यों ने संक्षेप में प्रस्तुतीकरण किया जिससे इसकी सार्थकता दोष रूप में सामने उद्धृत हुई। रसंगंगाधरकार का प्रतिपादन वैयाकरण और नैयायिक मतानुसार है, अत: दीक्षित का ही मत रमणीय है।

ससन्देहालंकार

अर्थ चित्रोपस्कारक अलंकारों में ससन्देह का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अलंकार शास्त्र में इसके अनेक नाम हैं। कुछ काव्य शास्त्री इसे सन्देह मानते हैं तो कुछ इसे अलंकार की कोटि में ही नहीं रखते हैं किन्तु यह अलंकार

१. चित्रमीमांसा, पृ० ६९

सादृश्य मूलक ही है। उपमान और उपमेय दोनों का सन्देह ही ससन्देहालंकार का बीज है। जबकि एक वस्तु में अपनी प्रतिभा से अनेक पदार्थों का संशय या एक उपमेय में अनेकों उपमान का संशय स्थापित होता है तो वहॉ सन्देहालंकार का विषय होता है।

उत्प्रेक्षालंकार में जहाँ उपमानोपमेय में संशय की प्रतीति आधिक्य होती है वही ससन्देह में दोनों की प्रतीति समान कोटिक होती है यही इन दोनों का भेद है।

सर्वप्रथम दीक्षित ने प्राचीनों का ससन्देह लक्षण उद्धृत किया है।

साम्यादप्रकृतार्थस्य या धीरनवधारणां।

प्रकृतार्थाश्रया तज्ज्ञै:, ससन्देह: सा इष्यते।।[१]

जहाँ सादृश्य के आधार पर प्रकृत पदार्थ में अप्रकृत भी अनिश्चित बुद्धि उत्पन्न होती हैं, किन्तु दीक्षित जी को यह लक्षण मान्य नहीं है। साम्यात् इस पद में यदि फलत्वेन् हम हेतु पंचमी मानते हैं तो ससन्देह के उन लक्षणों में जहाँ ऐसी विवक्षा नहीं है यह लक्षण घटित नहीं हो सकेगा। यदि हम स्वत: हेतुत्व: विवक्षा मानते हैं तो 'अयं मार्तण्ड:' इत्यादि में जहाँ हेतुत्व विवक्षा नहीं है ससन्देह अलंकार नहीं हो सकेगा। अनवधारणा में यदि अनिश्चितता माने तो उत्प्रेक्षा में अतिव्याप्ति होगी और यदि अनिश्चितता का अर्थ एक कोटि में स्थिर नहीं मानते हैं तो अपह्नुति में अतिव्याप्ति होगी। 'प्रकृताश्रया' पद भी ठीक नहीं है क्योंकि कभी-कभी वर्णनीय प्रकृत पदार्थ सन्देह का आश्रय होता है। यहाँ ब्रह्मा सन्देह का आश्रय है। दीक्षित जी ससन्देह के दो भेद मानते हैं :–

प्रसिद्ध कोटिक और कल्पित कोटिक-

प्रसिद्ध कोटिक यथा-

पंकजं वा सुधांशुर्वेत्यस्माकं तु न निर्णय:।[२]

मुख कमल है या चन्द्रमा हम किसी निर्णय पर नहीं पहुँच पाते हैं।

१. चित्रमीमांसा, पृ० २०२

२. रसगंगाधर, पृ० २५६

कल्पित कोटिक:-

जीवनग्रहणे नम्र: गृहीत्वायु न सन्नत:।

किं कनिष्ठा: किमु ज्येष्ठा घटीयन्त्रस्य दुर्जना:।।

यहाँ दुर्जन रहट से छोटे या बड़े हैं निश्चित नहीं हैं। यहाँ ससन्देह कल्पित कोटिक है। पण्डितराज ने इस अलंकार के दो लक्षण किए है :-

प्रथम लक्षण यह है:-

"सादृश्यमूला भासमानविरोधका समबला नानाकोट्यवगाहिनी घी रमणीया सन्देहालंकृति:।"[१] अर्थात् सादृश्यमूला विरोध की प्रतीति जिसमें होती है, समान बल वाली भिन्न-भिन्न कोटि में अवगाहन करने वाली बुद्धि रमणीय होने पर ससन्देहालंकार होता है। संशयमात्र में अति व्याप्ति का वारण करने के लिए सादृश्यमूला विशेषण का निम्न पद्य में उदाहरणार्थ दिया है:-

अधिरोप्य हरस्य हन्त चापं परितापं, प्रशमय्यवान्धवानाम्,

परिणेस्यति वा न वा युवायं निरपादं मिथिलाधिनाथपुत्रीम्।।[२]

माला रूपक में अतिव्याप्ति के वारणार्थ 'भासमानविरोधका' विशेषण दिया है। उत्प्रेक्षा की व्यावृत्ति के लिए समबला विशेषण दिया। लौकिक संशय के निरसनार्थ रमणीय पद दिया है।

द्वितीय लक्षण निम्नवत् है:-

"सादृश्यहेतुका निश्चय सम्भवनान्यतराभिन्ना घी रमणीया संशयालंकृति।।

अर्थात् निश्चय और संभावना से अतिरिक्त ऐसी बुद्धि जो सादृश्य के कारण होती हो तथा रमणीय हो संशयोलंकार होती है। वस्तुत: यह उक्तिवैचित्र्य मात्र है। प्रथम लक्षण का तात्पर्यार्थ भी यही है।

अप्पय दीक्षित के "अस्या: सर्ग विधौ" में लक्षण संगत नहीं है को पण्डितराज ने असंगत सिद्ध कर दिया। उनके अनुसार प्रस्तुत उदाहरण में परस्पर प्रतिक्षेप करने वाले नाना कोटिक बुद्धि स्वरूप सन्देहालंकार की

१. रसगंगाधर, पृ० २५६

२. वही

अव्याप्ति नहीं होती है। रसगंगाधर में शुद्ध: निश्चयग्रंथ और निश्चमानत इस प्रकार ससन्देहालंकार और के उभेद कहे गये हैं।

शुद्ध ससन्देह :- जहाँ आरम्भ से अंत तक सन्देह बना ही रहे रसगंगाधर में शुद्ध निश्चयगर्भ और निश्चयान्त इस प्रकार ससन्देहलंकार के तीन भेद कहे गये हैं।

१. शुद्ध संसदेह- जहाँ आरम्भ से अन्त तक सन्देह बना ही रहे वहां शुद्ध सन्देहालङ्कार होता है। जैसे

मरकतमणि मेदिनी धरो वा तरूणतरस्तरूरेषा वा तमाल:,

रघुपतिमवलोक्य तत्र दूरादृषि निकौरिति संशय: प्रपेदे।।[१]

२. निश्चयगर्भ:-

जहाँ सन्देह के साथ-साथ उसकी निवारण करने वाली दृढ़ बुद्धि का भी वर्णन होता रहे जैसे:-

तरणि तनया किं स्यादेषा न तोयमयी हि सा

मरकतमणिज्योत्सना वा स्यान्नसा मधुरा कुत:।।

इति रघुपतो कायच्छाया विलोकन कोतुके।

वनवसतिभि: कैकै रादौ न सन्दिदिहे जनै:।।[२]

इसमें पहले सन्देह फिर वह अयथार्थ प्रतीत होता है पुन: दूसरा निश्चय होता है।

३. निश्चयान्त :-

यहाँ होता है जहाँ क्रमश: अनेक सन्देह होते है और अन्त में कोई निश्चित ज्ञान होता है। यथा-

चपला जलदाच्युता लता वा तरुमुख्यादिति संशये निमग्न:,

मुख नि:श्वसितै: कपिर्मनीषी निरणैसीदथ तां वियोगीनीति।।[३]

१. रसगंगाधर, पृ० २५७

२. वही

३. वही, पृ० २५८

उक्त उदाहरण में वियोगिनी नायिका के सम्बन्ध में क्रमश: विद्युत् व लता प्रकारिका भ्रान्ति होती है एवं अन्त में यथार्थ निश्चय होता है। इसी तरह कुछ के मत से आरोपमूलक और साध्यवसानमूलक ससन्देह भी होता है-

१. आरोपमूलक ससन्देह :-

वहाँ होता है जहाँ उपमान व उपमेय दोनों का शब्दश: ग्रहण किया गया हो जैसे- उक्त पद्य।

२. साध्यवसान मूलक :-

जहाँ उपमेय का ग्रहण न करके केवल उपमान का ही ग्रहण किया जाये वहाँ साध्यवसान मूलक अलंकार होता है जैसे-

सिन्दूरै: परिपूरितं किमथवा लाक्षारसै: क्षालितं,
लिप्तं वा किम् कुंड्कुमद्रवभरैरेतन्महीमण्डलम्।।
संदेहं जनयन्नृणामिति परित्राततत्रिलोकस्त्विषां।
ब्रात: प्रात रूपा तनोतु भवतां भव्याति भासां निधे:।।[१]

इसमें सवित्रि विषयक रति का परिपोषक होने से ससन्देह मुख्य अलंकार है। इसी तरह वाच्य, लक्ष्य, व्यङ्गय, भेद से ही ससन्देहालंकार तीन प्रकार का होता है।

व्यंग्य ससन्देहालंकार के उदाहरण ऊपर दिये जा चुके हैं।

व्यंग्य ससन्देहालंकार के उदाहरण जैसे-

साम्राज्यलक्ष्मीरियंमृष्यंकेतो: सौन्दर्यसष्टेरधिदेवता वा।
रामस्य राममवलोक्यं लोकैरिति स्मृ दोलारूरूहेतदानीम्।।[२]

व्यंग्य ससन्देहालंकार के उदाहरण जैसे :-

''तीरे तरुव्यावदनं सहासं नीरे सरोजं च मिलद्विकासम्।
आलोक्य धावत्युभयत्र मुग्धा मरन्दलुब्धालिकिशोरमाला।।[३]

१. रसगंगाधर, पृ० २५८
२. रसगंगाधर, पृ० २६०
३. रसगंगाधर, पृ० २६०

साधारण धर्म के आधार पर भी ससन्देहालंकार के विविध प्रकार होते हैं। ससन्देहालंकार की ध्वनिके सम्बन्ध में अप्पय दीक्षित जी ने निम्न पद्य दिया है-

कांचित् कांचनगौरांगीम् वीक्ष्य साक्षादिवश्रियम्।
वरद: सेंशयापन्नो वक्षस्थलमवैक्षत्।।[१]

इसमें संशय शब्दश: कथित हो गया है, परन्तु उतना मात्र होने से अलंकार की हानि नहीं होती, क्योंकि संशयालंकार का प्रयोजक वक्षस्थल में स्थित रहते हुए ही लक्ष्मी वहाँ से उतरकर सम्मुख बैठी है। इस प्रकार का संशय वक्ष:स्थल को देखा इससे व्यंग्य होता है। अत: सन्देहालंकार की ध्वनि यहाँ है, सारांश यह है कि ''कांचित् कांचन्'' इत्यादि में भी संशय का शब्दश: उल्लेख हो जाने पर भी उसकी व्यंग्यता प्रतीत होती है।

पण्डितराज को इस पर कड़ी आपत्ति है। इसके प्रमाण के लिए पण्डितराज ने ध्वनिकार का निम्न अंश प्रस्तुत किया है।

शब्दार्थशक्त्याक्षिप्तोऽपि व्यंग्योऽर्थ: कविना पुन:।
यत्राविष्कियो: स्वोक्तया सान्यै वालंकृर्तिध्वने:।।[२]

उक्त के खण्डन में पण्डितराज का रसगङ्गाधर का मत पृ० २६२-२६३ दृष्टव्य है। इस प्रकार आनन्दवर्धनाचार्य एवं तट्टीकाकार को प्रमाण बनाकर अप्पयदीक्षित को इन्होंने असंगत सिद्ध कर दिया है।

समवलोकन :-

पण्डितराज द्वारा भेदों में आरम्भिक तीन भेदों के अतिरिक्त अन्य भेद-प्रभेद जो बतलाये गये हैं वे नवीन हैं। यह सर्वप्रथम पण्डितराज ने ही उठाया ऐसी बात नहीं क्योंकि पूर्वाचार्यों को भी यह मान्य था। हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि उसका विस्तृत रूप से स्पष्टीकरण पण्डितराज ने ही

१. रसगंगाधर, पृ० २६१
२. धन्यालोक, पृ० २७१-२७२

किया। पण्डितराज ने कोई नवीन विषय सम्मुख न रखकर केवल स्पष्टीकरण ही दिया है।

पण्डितराज द्वारा अप्पयदीक्षित का किया गया खण्डन विचारणीय विषय है कि वह उचित है या अनुचित। दीक्षित के मतानुसार-

कान्चित् कांचन् गौरांगी वीक्ष्य साक्षादिवश्रियम्।
वरद: संशयापन्नों वक्षस्थलमवैक्षत्।।[१]

दीक्षित के मत से यहाँ तीन संशय व्यंग्य हैं–

१. युवती और लक्ष्मी इन दोनों में कौन अधिक रूपवती है?

२. युवती को सामने देखकर रूपगर्विणी लक्ष्मी का क्या हुआ होगा?

३- वक्षस्थल में एक लक्ष्मी तो पहले से हैं, अब इस लक्ष्मी का क्या होगा?

४- यहाँ व्यंग्यार्थ चमत्कारी अवश्य है, किन्तु वही प्रधान है और इतना चमत्कारी है कि उसी में सहृदय का हृदय रम जाये ऐसी बात नहीं है। अत: मेरे विचार से इसे गुणी भूत व्यंग्य मानना ही उचित है। अत: पण्डितराज का ही मत समीचीन लगता है।

भ्रान्तिमान् अलंकार

आन्तिमान का अर्थ है भ्रान्तिपूर्ण ज्ञान। अत्यधिक सादृश्य के कारण ही उपमान में उपमेय की निश्चयात्मक भ्रन्ति को भ्रान्तिमान अलंकार कहा जाता है। डॉ० ब्रह्ममानन्द शर्मा के मत से जहाँ एक और सादृश्य पर आधारित भ्रान्ति के कारण वाह्य होते है वहीं दूसरी ओर साम्य से अतिरिक्त भ्रान्ति के कारण आन्तरिक होते हैं। जब इसके कारण वाह्य होते है। फलत: ऐसी दशा में चमत्कार मूलत: भ्रान्तिजन्य होती है, किन्तु इसके कारण जब अतिरिक्त होते हैं तब ये भ्रान्ति के विषय में न रहकर दर्शकों या पाठकों की चित्तवृत्ति में अवस्थित रहती है।

फलत: यह अलंकार केवल भ्रान्ति में नहीं है, अपितु सादृश्य प्रयुक्त भ्रान्ति में है। सादृश्य प्रयुक्त भ्रान्ति भी ऐसी हो जहॉ कवि प्रातिभा हो तथा

---

१. चित्रमीमांसा, पृ० २१५

इस अलंकार का सर्वप्रथम विवेचन रुद्रट्[१] ने किया। परन्तु उसका सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन दण्डी ने अपने ग्रन्थ 'काव्यादर्श' में किया है।[२] वहीं भामह, उद्भट, वामनाचार्यों ने इसकी स्वतन्त्र सत्ता मानने से ही इंकार कर दिया है। भोज, मम्मट, विश्वनाथ, अप्पयदीक्षित, जगन्नाथ इत्यादि आचार्यों ने इसका अपने-अपने ग्रन्थों में वर्णन किया हैं। ''रुद्रट'' ने अलंकार सर्वस्व में भ्रान्तिमान् का निम्न लक्षण प्रस्तुत किया है।

''सादृश्याद्वस्त्वन्तरप्रतीतिर्भ्रान्तिमान'' अर्थात् ''सादृश्य के कारण किसी अन्य वस्तु में अन्य वस्तु की प्रतीति होना भ्रान्तिमान होता है।''[३]

उक्त लक्षण में अतिव्याप्ति और अव्युत्पत्ति दोष से ग्रस्त होने के कारण पण्डितराज ने इसका जोरदार खण्डन किया है :-

अतिव्याप्ति :-

१. ससन्देह और उत्प्रेक्षा में भी इस लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। ससन्देह में दो वस्तुओं के सादृश्य के कारण एक वस्तु में अन्य वस्तु की सन्देहात्मक प्रतीति होती है और उत्प्रेक्षा में भी सादृश्य के ही कारण एक वस्तु में दूसरी वस्तु का भान होता है।

२. यदि यह कहें कि एक वस्तु में दूसरी वस्तु का निश्चय होना पर भ्रान्तिमान अतिलंकार होता है तब भी रूपकालंकार में इसकी अतिव्याप्ति होगी। रूपक में वह प्रतीति निश्चयात्मक होती है।

३. यदि यह कहें कि उपमेयतावच्छेदकानवगाही निश्चय भ्रान्तिमान का स्थल है तथापि अतिशयोक्ति में होने वाली प्रतीति में अतिशयोक्ति होगी। अतिशयोक्ति में उपमेय का उपमेयत्वेन बोध नहीं रहता है।

---

१. अर्थविशेष पश्यन्नवागच्छदन्यमेव तत्सदृशम्।
नि:सन्देहं यस्मिन् प्रतिपत्ता भ्रान्तिमान् स इति।।
काव्यालंकार ८/८७

२. शरीरंमित्युत्प्रेक्ष्यं तन्वगिं त्वन्मुखं त्वन्मुखाश्रया।
इन्दुमण्यनुधावामीत्येषां मोहोपमास्मृता।।
काव्यादर्द २/२५

३. अलंकार सर्वस्व, पृ० ६८

अव्युत्पत्ति :-

इसी प्रकार अनाहार्य निश्चय को भ्रान्तिमान कहा जाय तब भी दोष है क्योंकि वह लक्षण भ्रान्ति मात्र का ही होगा भ्रान्तिमान् का नहीं अत: इसकी संगति असंगत होगी।

दीक्षित जी ने चित्रमीमांसा में इसका लक्षण इस प्रकार दिया है :-

कविसम्मतसादृश्याद्विषये पिहितात्मनि ।
आरोप्यमाणानुभवो यत्र सा भ्रान्तिमान्मत:।।

जहाँ आरोप्यमाण विषयी ''चन्द्रआदि'' का अनुभव हो तथा जहाँ आरोप विषय ''मुख आदि'' पर जिसका विषयत्व मुखत्व आदि छिपा दिया हो वहाँ भ्रान्तिमान अलंकार होता है। आरोप विषय में आरोप्यमाड़ विषयी का अनुभव कवि कल्पित होने पर लक्षण भी व्याप्ति रूपक आदि में नहीं होती।[1] रूपक एवं भ्रान्तिमान में अन्तर यह है कि रूपक में विषय और विषयी का पृथक-पृथक ज्ञान रहते हुए विषयी में विषय पर आरोप होता है अर्थात विषय में विषयी का बोध होता है। परन्तु भ्रान्तिमान अलंकार में विषय छिप जाता है। अत: पिहितात्मनि' विशेषण से रूपक में भ्रान्तिमान अलंकार की अतिव्याप्ति नहीं होती है।

किन्तु पण्डितराज ने उक्त मत का जबर्दस्त खण्डन किया।

१. ''पिहितात्मनि'' विशेषण से रूपकादि में अतिव्याप्ति नहीं होती है यह ठीक नहीं है क्योंकि रूपक में आरोप्यमाण वस्तु का अनुभव वर्णित नहीं होता अपितु उससे अनुभव उत्पन्न होता है अर्थात् भ्रान्ति है। अनुभव रूप और रूपक है अनुभव का विषय।

अनुभव :-

भ्रान्ति के लक्षण की अनुभूयमान अभेदरूप रूपक में किसी प्रकार अतिव्याप्ति होती ही नहीं। अत: पिहितात्मनि कहकर उसका वारण करना निर्मूल है।

१. पिहितात्मनीत्यनेनारोप्यमाणानुभवस्य स्वारसिकं कविप्रतिभया कल्पनं विवक्षितम्। तस्यैव विषयविधानसामर्थ्यात्। अतो रूपकादौ नातिव्याप्ति:।
चित्रमीमांसा पृ० ७५

२. रूपक पद से रूपक का ज्ञान यह अर्थ मानकर भी यदि उस विशेषण को सप्रयोजन सिद्ध किया जाय तो भी ससन्देहालंकार में अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि उसमें भी विषयतावच्छेदक का बोध नहीं होता है।[1]

भ्रान्तिमान के भेद

अप्पयदीक्षित ने भ्रान्तिमान के चार भेद प्रस्तुत किए हैं। पण्डितराज ने एक भी अलंकार भेद का निर्वचन नहीं किया है अपितु अप्पय द्वारा दिए गये एक विशिष्ट उदाहरण का खण्डन मात्र किया है-

१. शुद्ध भ्रान्ति
२. उत्तरोत्तरभ्रान्ति
३. भिन्नकर्तृक उत्तरोत्तर भ्रान्ति
४. अन्योन्यविषयक भ्रान्ति

शिन्जानैर्मज्जरीति स्तनकलशयुगं चुम्बितं चंज्चरीकै:।
स्तत्रासोल्लासलीला: किसलयमनसा पाण्डय: कीरद्रष्टा।।
तल्लोपायालपन्त्य पिकनिनदधिया ताडिता: काकलीकै।
रित्यं चालेन्द्रसिंह त्वदरिमृगदृशां नाप्यरण्यं शरण्यम् ।।

प्रस्तुत उक्त पद्य में भिन्नकर्तृक भ्रान्ति का निवर्तन स्पष्ट है। प्रसंग में भ्रमर, शुक्र एवं काकु है।

भ्रान्ति से स्तनकलश, हस्तपल्लव एवं वाणी को क्रमश: मंजरी, किसलय एवं कोकिलक्रन्दन मान बैठे हैं।

इस पद्य पर पण्डितराज तथा आचार्य विश्वेश्वर ने दीक्षित जी का प्रबलतम् खण्डन किया है।

१. स्तन कलशों में मन्जरी की भ्रान्ति कवि प्रसिद्ध नहीं है।
२. कीरदष्टा: में अविमृष्ट विधेयांश दोष है, कीरैर्दष्टा: प्रयोग होना चाहिए।
३. पिकनिंनदधिया में कौओं को कोकिलालप में नहीं अपितु कोकिलाओं

१. नहि दुग्धभागजलभागानां व्यामिश्रतास्तीति दुग्धलक्षणं जलंशान्ति व्याप्तिकंकर्तुम् युक्तम्।।
रसगंगालंकार भ्रान्ति प्र०, पृ० २६८

में भ्रान्ति ही संभव है। कोकिल ध्वनि हेतु कूजित प्रयोग उचित है, निनद नहीं।

४. त्वदरिमृगदृशा में अन्वय दोष भी है। दूसरे स्तन कलश रहकर पुनः उसका मञ्जरी के साथ औपम्य दिखलाना भी अचमत्कारी है। सादृश्य पर ही आधारित रूपक और उपमा का निबन्धन उद्विग्नकारी है।

किन्तु यह देखा जाय तो यह आलोचना उचित नहीं है। उक्त दोष तो श्लोककार का है। हाँ, अप्पयदीक्षित ने ऐसे असंगत श्लोक को ग्रहण क्यों किया यह चिन्तनीय है। दीक्षित जी ने अन्योन्य भ्रान्तिमान का एक उदाहरण दिया है :-

''पलाशकुसुमभ्रान्त्या शुकतुण्डे पतत्यलिः।
सोऽपि जम्बूफलभ्रान्त्या तमलिंधर्तुमिच्छति।।[१]

समवलोकनोपरान्त यह तथ्य उभरकर आता है कि पण्डितराज द्वारा किए गये खण्डन व्याकरण के आधार पर ही है। इस आधार पर दीक्षित का किया गया खण्डन न्यायोचित नहीं है। अलंकार सर्वस्वकार का भी पण्डितराज द्वारा किया गया खण्डन उचित नहीं है। पण्डितराज के इस आक्षोप के खण्डन में नागेश भट्ट का खण्डन ध्यातव्य है। नागेश के मतानुसार प्रथम तो उक्त उदाहरण में उल्लेखत्व और भ्रान्तित्व की संकीर्णता हो जाने से ही लक्षण में कोई दोष उत्पन्न नहीं हो जाता है। जैसे-भूतत्व और मूर्तत्व के लक्षण की संकीर्णता पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन चारों पदार्थों में रहती है। यदि भूतत्व और मूर्तत्व का लक्षण इसमें अतिव्याप्त हो जाय तो कोई दोष नहीं है। अतः ऐसे दोषों से किसी भी प्रकार बचना असंभव है। अतः दीक्षित जी के लक्षण पर ये सारे आरोप व्यर्थ प्रलाप मात्र हैं।

''शिंज्जनानैर्मञ्जरीति'' इस उदाहरण में फलतः दीक्षित जी ने भ्रान्ति अलंकार के अंश मात्र को उद्धृत किया है वस्तुतः यह इसका उदाहरण ही नहीं है। पण्डितराज के अनुसार जहाँ एकाधिक भ्रान्तियाँ होंगी वहाँ भ्रान्तियाँ अलंकार नहीं होगा। यहाँ परिभाषा के प्रसंग में पण्डितराज तो ठीक हैं किन्तु दीक्षित के आरोप के प्रसंग में पण्डितराज ध्यान वस्तुतः इस पर नहीं गया

१. चित्रमीमांसा पृ० २२१

कि इस अलंकार में यथार्थतः कवि को भ्रान्ति नहीं होती, प्रत्युत अपनी प्रतिभा से वह अपने काव्य में जिन पात्रों को निबद्ध करता है उनके भ्रम का ही वर्णन रहता है। कवि भ्रान्त व्याप्ति की वास्तविक भ्रान्ति का उल्लेख करके अपूर्ण आनन्द की योजना करता है। जहाँ तक विधेयाविमर्श का प्रश्न है वहाँ वाच्य रचना में सामान्य सिद्धान्त विधेयाविमर्श से नियमित हैं।

अनुवाद्यंमनुकत्यव न विधेयमुदीरयेत्।
न ह्यलब्धास्पदकिंचित् कुत्रचित् प्रतितिष्ठति।।

द्वितीय चरण में इस नियम का स्पष्टरूपेण उल्लंघन भी नहीं है। तृतीय चरण के ताड्न और नाद का जहाँ तक प्रश्न है वह आक्षेप लभ्यार्थ ही है। अतः उक्त उदाहरण इतनी निकृष्ट कोटि का भी नही कहा जा सकता है।

रूपक के साथ भ्रान्तिमान का प्रदर्शित भेद पार्थक्य नैयायिक मतानुसार बौद्धिक व शास्त्रीय प्रतिपादन है। अनैयायिक, सहृदय के हृदय में उस भेद का प्राकट्य कठिन है।

उल्लेख अलङ्कार

प्राचीनालंकारिकों में मम्मटाचार्य पर्यन्त इस अलंकार का विवेचन कहीं नहीं प्राप्त होता है। इस अलंकार का प्रादुर्भाव किसके द्वारा किया गया यह भी एक चिन्तनीय विषय है। किन्तु अलंकार सर्वस्वकार रूय्यक ने इसका विशद स्पष्ट विवेचन सर्वप्रथम किया ऐसा कहा जा सकता है। प्रताप रूद्रीय,[१] साहित्य दर्पणकार[२] ने इसका विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। चन्द्रालोक,[३] चित्रमीमांसा, रसगङ्गाधर में भी इस अलंकार का वर्णन प्राप्त होता है।

१. अर्थयोगरूचिश्लेषैरूल्लेखमनेकधा।
ग्रहीतृभेदादेकस्य स उल्लेखः सतां मतः।।
प्रताप रूद्रीय, पृ० ३८२

२. कवचिद् भेदाद् ग्रहीतृणां विषयाणां तथा क्वचित्।
एकस्यानेकधोल्लेखो यः स उल्लेख उच्चते।।
सा० दर्पण, पृ० ५२३

३. बहुभिर्बहुधोल्लेखादेकस्योल्लेख इष्यते। चन्द्रा, पृ० ४५

काव्य प्रकाश की उद्योतटीका में उल्लेखालंकार की स्वतंत्र सत्ता का उल्लेख नहीं है।[१]

पण्डितराज ने उल्लेखालंकार की दो स्थितियां सामने रखी। प्रथम की स्थिति निम्नवत् है:-

अर्थात एक ही वस्तु का निमित्त के भेद से अनेक ग्रहीताओं के द्वारा अनेक प्रकार से ग्रहण होता है वही उल्लेख होता है। यथा-

अधरं विम्बमाज्ञाय मुखमब्जं च तन्विते।
कीराश्च चंचरीकाश्च विन्दन्ति परमां मुदम्।[२]

यहाँ 'एकस्य वस्तुन:' कह देने से वह उल्लेखालंकार निरस्त हो जाता है। यद्यपि इसमें भी शुकों और भ्रमरों के द्वारा अधर और मुख का क्रमश: बिम्बाफल के रूप में और कमल के रूप में ग्रहण हो रहा है। अत: उल्लेखालंकार हो सकता है। इसी प्रकार ''धर्मस्यात्मा ममाधेय क्षमाया:'' इत्यादि मालारूपक में यह लक्षण प्रवृत्त न हो अत: ''अनेकैग्रहीतृभि:'' यह पद प्रयुक्त किया।

उल्लेख में होने वाला ग्रहण एक व्यक्ति के द्वारा एक ही प्रकार का होता है। अनेक प्रकार का नहीं, परन्तु वह ग्रहण अनेक व्यक्तियों के द्वारा भिन्न-भिन्न हो सकता है।

इसी प्रकार जहाँ एक ही वस्तु का अनेक गृहीताओं के द्वारा एक ही प्रकार का बोध हो वहाँ भी उल्लेखालंकार नहीं होगा। इसी को स्पष्ट करने के लिए लक्षण में **अनेकप्रकारकं** यह विशेषण रखा गया। द्वितीय स्थिति में उल्लेख का लक्षण इस प्रकार का है :-

''यत्रासत्यपि ग्रहीत्रनेकत्वे विषयाश्रयसमानाधिकरणादीनां
सम्बन्धिनामन्यतमानेकत्वप्रयुक्तमेकस्य वस्तुनोऽनेकप्रकारत्वम्।।''[३]

---

१. एतेनैतादृशेषु विषयेषूल्लेरवालंकारोऽयमतिरिक्त इति केषांचिदुक्ति: परास्ता। गजयाते तिवृद्धाभिरित्यादि श्लोके नायमलंकार:। अध्यवसानाभावात्। चैवं कोऽवालंकार: न कोऽपि। का० प्र० प्रदीपोद्योत् पृ० ४९३

२. रसगंगाऽलंकार, पृ० २२५

३. रसगंगाधर, पृ० २७४

अर्थात् अनेक ग्रहीताओं के न होने पर भी विषय के आश्रय के समानाधिकरण्य वाले सम्बन्धियों में से किसी एक का अनेकत्व प्रयुक्त एक वस्तु का अनेक प्रकारत्व हो।

उल्लेखालंकार के इन दोनों प्रकारों में वैशिष्ट्य यह है कि प्रथम में जहाँ भिन्न-भिन्न ग्रहीतों के द्वारा नाना प्रकार के ग्रहणों का समुदाय ही चमत्कार उत्पन्न करता है और वहीं दूसरे में तत्तद्विषयक भेद से भिन्न प्रकार समुदाय मात्र में चमत्कार उत्पन्न करने की शक्ति से अलंकारत्व होता है। इसमें जो ज्ञान प्रधान अंश रहता है उससे अलंकारता नहीं होती क्योंकि वह चमत्कारी नहीं होता।

अप्पयदीक्षित का मत :-

दीक्षित जी ने उल्लेख अलंकार का वर्णन निम्नवत् किया है :-

निमित्तभेदादेकस्य वस्तुनो यदनेकधा।
उल्लेखनम्नेकेन तदुल्लेखं प्रचक्षते।।

जहाँ भिन्न-भिन्न व्यक्ति एक ही वस्तु का निमित्त भेद के कारण पृथक-पृथक अनुभव करें। लक्षण की व्याख्या करने से केन्द्रित होता है कि इसमें सभी पद सार्थक है :-

अनेकेन :-

कहने से माला रूपक में इसकी अति व्याप्ति नहीं होती है क्योंकि अनुभवकर्ता वहाँ एक ही व्यक्ति होता है। **अनेकधा** कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति का अनुभव भी पृथक-पृथक होना चाहिए। **एकस्य** कहने का तात्पर्य यह है कि जिस वस्तु का भिन्न-भिन्न प्रकार से उल्लेख हो वह वस्तु एक ही होनी चाहिए। **उल्लेखम्** कहने का तात्पर्य यह है कि वर्णन निषेध स्पृष्ट न हो ऐसा अपह्नुति में इस लक्षण की अतिव्याप्ति को रोकने के लिए किया गया। इन सबके पश्चात् भी यदि उसमें कोई अतिव्याप्ति दोष की सम्भावना करे तो उसका निवारण कैसे करना चाहिए इसे दीक्षित जी निम्नपद्य के द्वारा स्पष्ट करते है :-

कान्त्या चन्द्रं विदु: केचित्सौरभेवाम्बुजंपरे।
वक्त्रं तव वयं ब्रूमस्तपसैक्यं गतं वयम्।।

इस अपहनुति के उदाहरण में अतिव्याप्ति की शंका हो तो अनेकधा उल्लेख में निषेधास्पृष्टत्व विशेषण और जोड़ देना चाहिए। उससे प्रथमार्ध में जिन दो मतों का उल्लेख हुआ है उनका उत्तरार्ध में वर्णित तृतीय मत से निषेध व्यंग्य होता है, अत: अतिव्याप्ति नहीं होगी।[१] किन्तु उक्त पद्य में पण्डितराज ने अपह्नुति नहीं अपितु संकीर्ण उल्लेख माना है। क्योंकि उल्लेख दो प्रकार का होता है :- शुद्ध और अलंकारान्तर से संकीर्ण।[२] उनके मत से ''यस्तपोवनमितिशतत्रुभि:'' कहकर भ्रान्तिमान और रूपक आदि से संकीर्ण उल्लेखालंकार है। यह अप्पय ने स्वयं कहा है। अत: उनकी इसी उक्ति के आधार पर ''कान्त्या चन्द्र'' इत्यादि में भी अपह्नुति से संकीर्ण उल्लेख कहा जा सकता है। निषेधास्पृष्टत्व विशेषण जोड़ना व्यर्थ है। यदि दीक्षित जी निषेधास्पृष्टत्व विशेषण जोड़कर अपह्नुति के इस उदाहरण में निवारण भी कर दे तो भी ''कपाले मार्जार:''[३] इत्यादि स्वकीय प्रदत्त भ्रान्तिमान के उदाहरण में उसकी निवृत्ति कैसे करेंगे? अत: संकीर्णोल्लेख के निवारणार्थ प्रयत्न व्यर्थ है।

उल्लेखालंकार के भेद :-

दोनों ही प्रकार के उल्लेखों के शुद्ध और संकीर्ण रूप से दो-दो भेद होते है। प्रथम प्रकार के शुद्धोल्लेख का उदाहरण जैसे-

नरैर्वर गति प्रदेत्यथ सुरै: स्वकीयापगे।
तनोतु ममं शं तनो: सपदि शन्तनोरंगना।।[४]

१. एवमपि यदि 'कान्त्या चन्द्र' इत्यपहनवोदाहरणं विशेषेऽतिव्याप्ति: शक्या, तदानीमनेकधोलेखनं निषेधास्पृष्टत्वेन विशेषणीयम् तत्राद्योल्लेखद्वयम् पर्ममत्योपन्यास सामर्थ्याद् गम्यमाननिषेधमिति नाति व्याप्ति:। चित्रमीमांसा पृ० ७८

२. द्विविधश्चायमुल्लेख: शुद्धोऽलंङ्कारान्तरसंङ्कीर्णश्च। रसगंगाधर, पृ० २७२

३. कपाले मार्जार: पय: इति करांल्लेढि शशिन:
स्तरूच्छिद्र प्रोतान्विसमिति करी संकलयति।
रतान्ते तल्पस्थान्हरति वनिताप्यंशुकमिति
प्रभामत्तश्चन्द्रो जगदिदमहो विभ्रमयति।। चित्रमीमांसा, पृ० ७५

४. रसगंगाधर, पृ० २७१

अन्य किसी अलंकार से मिश्रित न होने से यह शुद्ध है।

संङ्कीर्णोल्लेख यथा-

आलोक्यं सुन्दरिमुखं तव मन्दहासं
नन्दन्त्यमन्द मरविन्दधिया मिलिन्दा:।
किं चालि पूर्ण मृगलांछन सम्भ्रमेण,
चंचूपुटं चटुलयन्ति चिरं चकोरा:।।[१]

अनेक भ्रान्तियों का समुदाय होने के कारण ही उल्लेखालंकार है। द्वितीय उल्लेख का शुद्ध प्रकार यथा-

दीनब्रातेदयार्द्रा निखिलरिपुकुले निर्दया किंच मृद्वी
काव्यालापेषु तर्कप्रतिवचनविद्यौ कर्कशत्वं दधाना
लुब्धा धर्मेष्वलुब्धा वसुनि पर विपद्दर्शने काकिशीवा
राजन्राजन्मरम्या स्फुरति बहुविधा तावकी चित्तवृत्ति:।।[२]

संकीर्ण का उदाहरण यथा:-

गगने चान्द्रिकायन्ते हिमायन्ते हिमाचले।
पृथिव्यां सागरायन्ते भूपाल तवकीर्तय:।।[३]

फलोल्लेख:-

यही उल्लेख जब फलों के विषय में होता है तब फलोल्लेख होता है यथा-

अर्थिनो दातुमेवेति यातुमेवेति कातरा:।
जातोऽयं हन्तुमेवेति वीरास्त्वां देवजानते।।[४]

इसमें विशेषण है दातृत्व आदिफल, अत: फलोल्लेख है।

१. रसगंगाधर, पृ० २७२
२. वही, पृ० १०४
३. वही, पृ० २७५
४. वही, पृ० २७३

हेतूल्लेख :-

जहाँ हेतुओं का वर्णन हो वहाँ हेतूल्लेख होता है।

हरिचरणनखरसंगादेके हरमूर्धस्थितेरन्ये।

त्वां प्राहुः पुण्यतमामपरेसुरतिटिनि सुरतिटिनि! वस्तुमाहात्म्यात्।।[1]

यहाँ गंगा के विषय में अनेक क्रिया हेतुओं का वर्णन होने से हेतूल्लेख है।

उल्लेखालंकार की ध्वनि :-

उदाहरणं यथा-

अनल्पतापा हृतकोटिपापा गदैकशीर्णा भवदुःखजीर्णाः।

विलोक्य गंगां विचलत्तरंगाममी समस्ताः सुखिनो भवन्ति।।[2]

यहाँ शुद्धोल्लेख की ध्वनि है।

संकीर्ण उल्लेख यथा:-

''स्मर्यमानानां तत्र तां विलोक्य विलासिनीम्।

चकोराश्चंचरीकाश्च मुदं वरतरां ययुः।।[3]

यहाँ भ्रान्ति से संकीर्ण उल्लेख है।

द्वितीय उल्लेख की ध्वनि जैसे-

भासयति व्योमगता जगदाखिलं कुमुदिनीर्विकासयति।

कीर्तिस्तव धरिणगता सागरसुताया समफलतां नयते।।[4]

इसमें अधिकरण में भेद के कारण एक ही कीर्ति का चन्द्रिका और सागर रूप से अनेक विध ग्रहण होने से रूपक से मिश्रित अलंकार है।

---

१. रसगंगाधर, पृ० २७३

२. वही, पृ० २७७

३. वही

४. वही

समीक्षा :-

अप्पय दीक्षित के द्वारा दिए गये उदाहरण के खण्डन में एक मात्र अनुभव ही प्रमाण है। दीक्षित जी के ''कान्ताचन्द्रं विदुः केचित्'' इत्यादि अपह्नुति के उदाहरण में अतिव्याप्ति वारणार्थ उल्लेख लक्षण में ''निषेध स्पर्श न किया हुआ'' इस विशेषण इत्यादि के माध्यम से सारे किए गये प्रयासों को पण्डितराज निरर्थक बतलाते हैं, लेकिन वस्तुतः वह उल्लेख सादृश्यगम अभेद प्रधान आरोपमूलक अलंकार है।

इसका तात्पर्य उल्लेख न होकर वर्णन से है। इसमें एक ही वस्तु का अनेक प्रकार से वर्णन होता है। इसमें कार्य विषय तो एक होता है, किन्तु इसका वर्णन व्यक्ति दृष्टिभेद के कारण अनेक प्रकार से करते हैं। जब ग्रहीता या अनुभविता किसी एक विषय को लेकर उसका अनेकविध वर्णन करता है तो यह आवश्यक नहीं है कि वह उसमें निहित अनेक गुणों कार्यो या धर्मो का वर्णन करे ही। अतः ऐसी स्थिति में सम्मिश्रण से उत्पन्न दोषों के निवाणार्थ ''निषेध से असंपृक्त'' विशेषण की निरर्थकता सिद्ध नहीं होती है।

जहाँ मिश्रित उल्लेख में निवाणार्थ लक्षण में प्रयुक्त विशेषण का कथन है उसकी उपयोगिता तो इसी से सिद्ध होती है कि इन्हीं विशेषणों के बल से कवि वस्तु सौन्दर्य की व्यापकता का निदर्शन कर अपनी कल्पनाशक्ति को विस्तृत आयाम प्रदान करता है। एक वस्तु के लिए जितने उपमान प्रस्तुत किए जाते है उनका उस वस्तु के साथ अभेद या आभिन्नता होती है तथा उस पर अन्य पदार्थों का आरोप ही होता है। यही उल्लेख का वस्तुतः सौन्दर्य है। अतः दीक्षित जी का कथन सर्वथा दोष रहित है।

इस विषय में अन्यों की तुलना में कोई वैशिष्टय नहीं है, किन्तु उस विषय के साथ विवेचन और संकीर्ण व्याख्या एवं प्रतिपादन में नूतनता अवश्य ही रमणीय है। संकीर्ण उल्लेखकारण मानना उचित है। जब उल्लेखातिरिक्त अलंकार भी समान रूप से चमत्कारी हो। किसी पद का प्रधान होने पर संकर नहीं कहा जा सकता है।

अपह्नुति अलंकार

संस्कृत साहित्य में इस अलंकार का प्रचार-प्रसार प्राचीन काल से ही दिखलाई पड़ता है। वेद में ब्रह्म विषयक अवधारणा है कि वह परम पुरुष

जगत का सर्जन कर के स्वयं ही उसी में लीन हो गया है।[१]

ब्रह्मसूत्रानुसार यह संसार ब्रह्म एवं माया का खेल है। जैसा कि श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध में वर्णित है कि श्री कृष्ण ने रासलीला में अपने को पहले तिरोहित कर दिया। तदनन्तर वहीं अनन्त रूप धारण करके गोपिकाओं के साथ रमण किये।[२] उसी तरह यह अलंकार भी अपने सादृश्य को तिरोहित करके अलौकिक सादृश्य बल से साहित्य जगत में अवतीर्य होकर सहृदय मन को आनन्दित करता है। उपमेय की अपह्नुति पश्चात् उपमान का स्थापन ही इस अलंकार का मूल है।

इस अलंकार का प्रथम प्रादुर्भाव भामह ने अपने काव्यालङ्कार में किया है।[३] उन्होंने इसका अन्तर्भाव सादृश्य मूलक अलंकार के अन्तर्गत किया है। कालान्तर में उद्भट्ट, वामन, रूद्रट मम्मट, रूय्यक, जगन्नाथ आदि आचार्यों ने इस अलंकार को स्वीकार किया। दण्डी ने इसे सादृश्यमूलक नहीं स्वीकार किया।

उन्होंने उपमालंकार में इसका अन्तर्भाव किया।[४] इसी का अनुसरण सरस्वती कण्ठाभरणकार ने भी किया है।[५] विश्वनाथ और अप्पय दीक्षित इन दोनों ने सादृश्य सम्बन्ध को स्वीकार किया।

पण्डितराज ने इसका लक्षण करते हुए बताया कि-

''उपमेतावच्छेदकनिषेधसमानाधिकरण्येनारोप्यमाणमुपमानतादात्म्यमपह्नुति:।।[६]

१. सत्यानृते मिथुनीकृत्य प्रवर्तितोऽयं लोक व्यवहार:।
ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य उपोद्घात्, पृ० १

२. कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषित:।
रेमे स भगवांस्ताभिरात्मारामोऽपि लीलया।।

३. अपह्नुतिरभीष्टा च किंचिदन्तर्गतोपमा।
भूतार्थापह्नवादस्या: क्रियते चाभिधा यथा।। ३/२१ काव्यालङ्कार

४. उपमापह्नुति: पूर्वमुपमास्वेव दर्शिता
इत्यपह्नुति भेदानां लक्ष्यो लक्ष्येषु विस्तर:।। काव्यादर्श २/३०९

५. अपह्नुतिरपह्नुत्य किंचदन्यार्थ दर्शनम्।
औपम्य वाचनोपमा चेति सा द्विविधोच्यते।। सरस्वती ४/४१

६. रसगंगाधर पृ० २७८

अर्थात् उपमेयता के अपने विशेष रूप 'अवच्छेदक का' जिस अधिकरण में निषेध हो उसी अधिकरण में आरोप्यमाण 'उपमान' का तादत्म्य वर्णित करने पर अपह्नुति अलंकार होता है। रूपक में इस लक्षण की अतिव्याप्ति वारणार्थ निषेध पद का विधान किया गया है। अपह्नुति और रूपक में एक विशेष अन्तर यह है कि रूपक में जहाँ उपमेयतावच्छेदक और उपमानतावच्छेदक इन दोनों का निषेध के अभाव में समानाधिकरण होने से एक ही स्थल में होने के कारण विरोध नहीं होता हैं वहीं अपह्नुति में उपमेय के विशेष रूप का निषेध होने से उपमेयतावच्छेदक और उपमानतावच्छेदक इन दोनों में विरोध होता है।

उदाहरणार्थ–

स्मितं नैतत्किं तु प्रकृतिरमणीयम् विकसितं
लतारम्या सेयं भ्रमरकुलनम्या न रमणी।।[१]

इसमें क्रमश: स्मिति, मुख, स्तनद्वय, और रमणी रूप उपमेयों का निषेध करके उसी अधिकरण में विकास, कुमुद, कनक, फल और लता का तादात्म्य स्थापित किए जाने से अपह्नुति है।

अपह्नुति के भेद:-

यह अपह्नुति चार प्रकार की होती है। पहले इसके सावयव और निरवयव ये दो भेद होते हैं। फिर इन दोनों में वाक्य भेद एवं वाक्यार्थ भेद होते हैं। सावयव अपह्नुति तो उक्त पद्य ही है।

निरवयव यथा :-

श्यामं सितं च सदृशो न दृशो: स्वरूपं
किंतु स्फुटं गरलयेत दथामृतं च।
नो चेद कथं निरयत् नादयौस्तदैव
मोहं मृदं च नितरां दधते युवान:।।

१. रसगंगाधर पृ० २७८

इसमें विष और अमृत होने की जो प्रतिज्ञा की गई है। उसके कारण रूप में बाधक हेतुओं का निबन्धन किया गया है। अत: हेत्वपह्नुति है। इसमें अंग भूता अपह्नुति न होने से यह निरवयवा है।

वाक्यभेद :-

जहाँ एक वाक्य से उपमेय का निषेध हो और दूसरे वाक्य से उपमान का आरोप वहाँ वाक्य भेद होता है। जैसे-

स्मितं नैतत्किं तु प्रकृतिरमणीयं विकसितं।

इस उदाहरण में प्रथम चरण में उपमेय का निषेध और उपमान का आरोप पृथक-पृथक वाक्यों से होने के कारण यहाँ वाक्य भेद भी है।

वाक्यैक्य: -

जहाँ विष छल, छद्म, कपट, व्याज आदि शब्दों का प्रयोग होता है। वहाँ वाक्यैक्य रहता है।

यथा-

वदने विनिवेशिता भुजंगी पिशुनानां रसानाभिषेण छात्रा।

अन्या कथमन्यथावलीढा नहि जीवन्ति जना मनागमन्या:।।[१]

यहाँ **भिषेण** के प्रयोग से वाक्य भेद नहीं है इसके अतिरिक्त भी अपह्नुति के अन्य भेद भी हैं, किन्तु वे प्राथमिक न होने से गणनीय नहीं है।

अप्पय दीक्षित जी ने एक और भेद 'पर्यस्तापह्नुति नाम' से किया है, किन्तु वह कुवलयानन्द में उद्धृत होने से प्रसंगत: यहाँ विषय नहीं है। अप्पय दीक्षित जी ने इसका लक्षण निम्नवत् किया है।

''प्रकृतस्य निषेधेन यदन्यत्वप्रकल्पनम् साम्यादपह्नुति:।।[२]

जहाँ प्रकृत पदार्थ के निषेध से सादृश्याधार पर अप्रकृत की कल्पना की जाये। इस लक्षण में सभी पदों की सार्थकता है। प्रकृतस्य निषेधेन'' कह

१. रसगंगाधर पृ० २७९
२. चित्र मीमांसा पृ० २३७

देने से रूपक में अप्रकृत का आरोप पाया जाता है, निषेध नहीं। अत: वहाँ अतिव्याप्ति नहीं होती है। साम्यात् और यन्यत्वप्रकल्पनम् कह देने से आक्षेपालंकार का निवारण हो जाता है क्योंकि वह सादृश्यमूलक अलंकार नहीं है। उसमें विषय का निषेध ही पाया जाता है अन्यत्वप्रकल्पनम नहीं पाया जाता है। इसकी अतिव्याप्ति 'तत्वाख्यानोपमा' में भी नहीं होती है क्योंकि वहाँ अप्रकृत का निषेध करके प्रकृत की स्थापना की जाती है, जो अपह्नुति के ठीक विपरीत है।[१]

कुछ ने 'प्रकृतं प्रतिषिध्यान्य स्थापनम्', 'निषिध्य विषयं सम्यादारोप:' में अपह्नुति के लक्षण किये हैं। इनके मतानुसार पहले प्रकृत का निषेध करने के पश्चात् उस पर अप्रकृत का आरोप किया जाता है, किन्तु इसका अपवाद भी है। अत: ऐसी स्थिति में आलंकारिकों के ये लक्षण तर्कसंगत नहीं बैठते हैं। दीक्षित जी ने इसी को ध्यान में रखकर प्रतिषिध्य, निषिध्य न कहकर 'निषेधेन' कहा है। यह लक्षण दोनों ही स्थित में संगत बैठ जाता है।[२]

लक्षण में साम्य और सादृश्य पदों से स्पष्ट है कि प्रकृत और अप्रकृत में साधर्म्य होने पर ही अपह्नुति अलंकार होता है। किन्तु दीक्षित के मतानुसार साधर्म्येतर सम्बन्ध में भी अपह्नुति होती है। जैसे-

अमृतस्यन्दि किरणश्चन्द्रमामत्र नो मत:।

अन्य एवायमर्कात्मा विषनिष्यन्द दीधिति:।।[३]

सादृश्याभाव में भी यहाँ प्रकृत में अप्रकृत की स्थापना की गई है। दीक्षित जी ने अपह्नुति के निम्न भेद किये है:-

१. अनेक वाक्यवती।

२. एक वाक्यवती।

इन्हें क्रमश: वाक्य भेदवती और वाक्याभेदवती कहा गया है।[४] वाक्य

१. चित्र मीमांसा सुधा व्याख्या, पृ० २३७
२. वही, पृ० २३७
३. वही, पृ० २४३
४. वही, पृ० २३७

भेदवती अपह्नुति के दो भेद होते हैं।

१- अपह्नवपूर्वक आरोप

२- आरोपपूर्वक अपह्नव

अपह्नव पूर्वक आरोप यथा-

अंकं केऽपि शशंकिरे जलनिधेः पङ्कं परं मेनिरे
सारगंकतिचिंच संजगदिरे मूर्च्छायमैच्छंन्यरे।।
इन्दौ यद्दलितेन्द्र नीलशकलश्यामदरीदृश्यते।
तत्सान्द्रं निशिपीतमन्धतमसं कुक्षिस्थमाचक्ष्महे:।।[1]

यहाँ प्रकृत के निषेधोपरि अप्रकृतारोपण है।

आरोप पूर्वक अपह्नव जैसे-

मथान्नभूमिधर मूल शिलासहस्र,
संघट्टन ब्रण किणः स्फुरतीन्दु मध्ये।।
छायामृगः शशक इत्यति पामरोक्ति-
स्तेषां कथंचिदपि तत्र हि न प्रसक्तिः।।[2]

यहाँ पहले अप्रकृत का आरोप है, तदनन्दर प्रकृत का निषेध है।

एक वाक्य की अपह्नुति जैसे-

वत सखि किम् यदेतत्पश्य वैरं स्मरस्य,
प्रियबिरहकृशेऽस्मिन् कामिलोके तथापि।
उपवनसहकारोद्भासि मृगच्छलेन
प्रतिविशिखकमनेको टंकितक्कालकूटम्।।[3]

यहाँ 'छल' शब्द के प्रयोग से आम्रवृक्ष पर बैठते हुए भौरों का निषेध करके विषैले बाणों की स्थापना की गयी है।

---

१. चित्र मीमांसा, पृ० २३९

२. वही, पृ० २४०

३. वही

अपह्नुति के एक अन्य भेद भी है, जहाँ प्रकृत वस्तु को छिपाने के लिए सादृश्य का प्रयोग किया जाता है। यथा-

बाले लज्जानिरस्ता नहि-नहि स्वरले चोलकः कि त्रपाकृत्।[1]

रूय्यक ने यहाँ का व्याजोक्ति माना है, किन्तु व्याजोक्ति का समर्थन न करने वाले आचार्य उद्भट्ट आदि यहाँ अपह्नुति का भेद मानते हैं। दीक्षित के मतानुसार दण्डी भी साधर्म्येतर सम्बन्ध को स्वीकार करते हैं। यथा-

''अपह्नुतिरपह्नुत्य किंचिदन्यार्थसूचनम्।''

पण्डितराजाभिमत अपह्नुति की ध्वनि-

दयिते रदनत्विषां मिषादपि तेऽमी विलसन्ति केसराः।
अपि चातकवेषधारिणो मकरन्द स्पृहयालवोऽलयः।।[2]

यहाँ प्रकृत दन्तकान्ति और केश की तथा अप्रकृत कमलकेशर और अलिसमूह की एक ही क्रिया विलसति और एक ही स्पृहा गुण होने से तुल्ययोगिता प्रतीत हो रही है। यह गौण है और व्यंग्य रूपा अपह्नुति प्रधान है।

ध्वनि के सम्बन्ध में दीक्षित जी का मत-

त्वरालेख्ये कौतूहल तरलतन्वी विरचिते,
विधायैका चक्रं रचयति सुपर्णीसुतमपि।
अपि स्विद्यत्पाणि स्त्वरितमपमृज्यैतदपरा
करे पौष्यं चापं मकरमुपरिष्टा च लिखति।।[3]

यहाँ यह पुण्डरीकाक्ष भी नहीं, अपितु साक्षात् कामदेव है, यह व्यंग्य हो रहा है।[4] किन्तु पण्डितराज को यहाँ ध्वनि मान्य ही नहीं है- वे खण्डन

---

१. चित्र मीमांसा, पृ० २४१

२. रसगंगाधर, पृ० २८२

३. चित्र मीमांसा, पृ० ८६

४. ''इत्यादावपह्नुतिर्घ्वनिरूदाहर्तव्यः। अथहि चक्रसुवर्णलेखनेन 'नायं साधारणः पुरूषः किंतु पुण्डरीकाक्षः इति कयाचिद् व्यंजितम्। अन्यया या तस्या प्येतादृशंस्यां रूपं न सम्भवतीत्यारोपेण। ''नायं पुण्डरीकाक्ष कोऽपि, किंतु मन्मथः'', चित्रमीमांसा, पृ० ८६

करते हुए कहते हैं–

१. चक्रसुपर्ण लेखन से नायं साधारण: पुरूष: किन्तु पुण्डरीकाक्ष: यह कहना अनुचित है अपह्नुति में दो भाग होते हैं उपमेय का निषेध और उपमान का आरोप। चक्र सूपर्ण लेखन रूप व्यंजक शब्द निषेध की व्यंजना करने में समर्थ नहीं है।

२. उक्त निषधात्मक अर्थ की प्रतीति अनुभव सिद्धि से परे है, अत: इसके कारण भी व्यर्थ है।

३. दीक्षित के अपह्नुति के लक्षण ''प्रकृतस्य निषेधेन यदन्यत्व प्रकल्पनम्'' की संगति यहाँ न होने से अनुचित हैं क्योंकि जिसका निषेध किया गया है ऐसे भगवान् पुण्डरीकाक्ष: प्रकृत विषय ही नहीं है। अत: निषेध कैसे!

उपमेय का निषेध कैसा? उपर्युक्त उदाहरण में उपमेय पुण्डरीकाक्ष नहीं, अपितु नायक है। इसी भाव का पोषक मम्मट कृत लक्षण भी है।

१. ''प्रकृतस्य निषेधेन'' कहकर दीक्षित जी ने स्वयं इसे अपह्नुति से वहिर्भूत कर दिया है।

२. यहाँ अपह्नुति नहीं अपितु रूपक माना जाना चाहिए।

समीक्षा: -

यहाँ विषय प्रतिपादन में ही मौलिकता है। विषय में नूतनता का अभाव है। पर मत खंडन विशेष कर दीक्षित जी का खण्डन पण्डितराज ने सामानाधिकरण्य को रख कर ही किया है। अत: यह सिद्ध होता है कि विषयपरिष्कार करते समय पर मत खण्डन पर भी पर्याप्त ध्यान रहता था। पण्डितराज द्वारा कृत खण्डन का नागेश जी ने खण्डन किया है और लिखा है पण्डिराज का यह आक्षेप भी विचारणीय है। दण्डी का अनुसरण करके ही दीक्षित जी ने अपह्नुति ध्वनि को प्रदर्शित किया है, अत: कोई क्षति नहीं है।

❖

सप्तम अध्याय

अध्यवसायमूलक अभेद प्रधान अंक अलंकारों की समीक्षा

प्राचीन काल से ही यह अलंकार उपमान और रुपक के अनन्तर संस्कृत साहित्य में बहुचन समादृत होता रहा है और आज भी समादृत है। प्राय: सभी आलंकारिकों ने इसके स्वरूप को निरूपित किया है। भामह ने इसे सादृश्य मूलक अलंकार बतलाते हुए उपमा के साथ इसके सम्बन्ध को व्यक्त किया हैं।[१] दण्डी के प्रदर्शित ''लिम्पतीव तमोऽङ्गानि'' इस उदाहरण को प्राय: सभी ने स्वीकार किया है। काव्यप्रकाशकार ने उत्पेक्षा का निम्नवत लक्षण किया है :–

''सम्भावन्मथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्'' अर्थात् प्रकृत (उपमेय) की उपमान के साथ सम्भावना उत्पेक्षा होती है।[२] उत्प्रेक्षा और उपमा में भेद करना कठिन होता है। उत्प्रेक्षालंकार सादृश्य मूलक अभेद प्रधान अलंकार है। उपमा अलंकार में उपमानोपमेय दोनों के सादृश्य की प्रतीति होती है, किन्तु रूपकालंकार में उन दोनों के तादात्म्य की। उत्प्रेक्षालंकार में सादृश्य की सम्भावना होती है। रूय्यक ने इसके पर्याप्त भेद प्रदर्शित किए हैं और दीक्षित जी ने भी उन्हीं का अनुसरण किया है। सर्वप्रथम उपमा और उत्प्रेक्षा के बीच भेद पर विचार आवश्यक है। आचार्य विश्वेश्वर ने इसे इस तरह प्रदर्शित किया है।[३]

१. मन्ये शंके ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादय:।
उत्प्रेक्षा वाचका: शब्दा इव शब्दोऽपि तादृश:।।

---

१. अविवक्षित सामान्य किंचिच्चोपमया सह।
एतद्गुणक्रियायोगदुत्प्रेक्षातिशयान्विता।। भामह का० २/९१

२. लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवांजनं नभ:।
इतीदमपि भूयिष्ठमुत्प्रेक्षालक्षणान्वितम्।। काव्यादर्श: २/२५

३. काव्य प्रकाश: – दशमोल्लास:। सूत्र १३६

मन्ये, शंके, ध्रुवं, प्राय:, नूनं ये उत्प्रेक्षा वाचक शब्द हैं। इनका प्रयोग उपमा में नहीं होता है अत: जहाँ इन शब्दों का प्रयोग होता है वहाँ स्पष्टत: उत्प्रेक्षालंकार होता है।

२. 'इव' शब्द का प्रयोग उत्प्रेक्षा में प्राय: किया पद के साथ होता है यथा– ''लिम्पतीव तमोऽङ्गानि।''

३. उपमा का प्राण सादृश्य है और उत्प्रेक्षा का प्राण सम्भावना है। उपमेय का वस्तुसत उपमान के साथ सादृश्य होने पर उपमा होती है। जबकि उपमेय की कल्पित उपमान रूपेण सम्भावना होने पर उत्प्रेक्षा होती है।

दीक्षित ने उत्प्रेक्षा का लक्षण प्रताप रूद्रीयकार विद्यानाथ से उद्धृत किया है–

> यत्रान्य धर्म सम्बन्धादन्यत्वेनोपतर्किंतम्।
> प्रकृतं हि भवेत् प्राज्ञास्तामुत्प्रेक्षां प्रचक्षते।।[१]

जहाँ अप्रकृत पदार्थ के धर्म सम्बन्ध के कारण प्रकृत में अप्रकृत की कल्पना की जाये वहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार होता है।

''अन्यं धर्म सम्बन्धात्'' का तात्पर्य यह है कि प्रकृत में अप्रकृत की सम्भावना किसी धर्म सम्बन्ध के कारण ही हो, ऐसा सम्भव अलंकार में उत्प्रेक्षा लक्षण की अतिव्याप्ति वारणार्थ किया गया। संभव अलंकार की पृथक सत्ता दीक्षित ने स्वीकार की है, किन्तु मम्मट, जगन्नाथ आदि ने नहीं। वे अतिशयोक्ति के तृतीय भेद में ही इसका समावेश करते हैं। ''अन्यत्वेनोपतर्किंतम् '' लक्षण में इसलिए रखा गया है कि यदि प्रकृत में अप्रकृत की कल्पना न होकर मात्र सम्भावना हो तो वहाँ उत्प्रेक्षालंकार नहीं होगा।

यथा–

> विरक्तसन्ध्या परूषं पुरस्ताद् यतो रज: पार्थिवमुज्जिहीते।
> शंके हनूमत्मकथितप्रवृत्ति: प्रत्युद्गतो मां भरत: ससैन्य:।।[२]

''उपतर्किंतम्'' पद से अनुमानालंकार का भी निषेध होता है क्योंकि अनुमानालंकार में तर्क अथवा कल्पना का अभाव रहता है।

---

१. चित्रमीमांसा, पृ० २४७

२. रसगंगाधर, पृ० २८५

''प्रकृत'' पद रखने का तात्पर्य यह है कि कल्पना प्रकृत गत होती है न कि अप्रकृत गत। अत: जहाँ अप्रकृत से कोई सम्भावना होगी वहाँ उत्प्रेक्षालंकार नहीं होगा।

पण्डितराज ने उत्प्रेक्षालंकार का निम्न लक्षण किया है–

> ''तद्भिन्नत्वेन तद्भाववत्वेन वा प्रमितस्य पदार्थस्य,
> रमणीयतद्वृत्तितत्समानाधिकरणान्यतरस्तद्धर्मसम्बन्धनिमित्तकं तत्त्वेन तद्वत्वेन वा सम्भावनमुत्प्रेक्षा''

इस लक्षण में चार बार तत् पद का प्रयोग हुआ है। उनमें से द्वितीय 'तत्' पद विशेषपरक तथा शेष तीन 'तत्' पद विषयपरक हैं इसमें धर्म्युत्प्रेक्षा और धर्मोत्प्रेक्षा दोनों को लक्षित किया गया है। लक्षण में 'तद् भिन्नत्वेन प्रमितस्य' कहने से ''लोकोत्तर प्रभाव त्वां मन्ये नारायणं परम्'' इसमें अतिव्याप्ति नहीं होती है क्योंकि राज रूप विषय का पृथक रूप में प्रत्यायन न होने से यहाँ उत्प्रेक्षा नहीं होगी।

> वदन कमले नवाले स्मितसुषमालेश्चामावहसि यदा।
> जगदिह तदैव जाने दशार्धवाणेन विजितामिति।।[१]

जगंज्जय की सम्भावना में उत्प्रेक्षा न हो जाये। अत: ''रमणीयतद्धर्म निमित्तकम्'' यह विशेषण दिया है।

रुपक में अभेद का निश्चय रहता है किन्तु उत्प्रेक्षा में अभेद की सम्भावना रहती है। अभेद ज्ञान का वारण करने के लिए ही 'सम्भावनम्' विशेषण दिया है। उत्प्रेक्षा के भेद इस प्रकार है–

उत्प्रेक्षा

- वाच्या
  - स्वरूपोत्प्रेक्षा
  - फलोत्प्रेक्षा
  - हेतुत्प्रेक्षा
- प्रतीयमाना
  - स्वरूपोत्प्रेक्षा
  - फलोत्प्रेक्षा
  - हेतुत्प्रेक्षा

---

१. रसगंगाधर, पृ० २४८

वाच्या :–

जहाँ नूनम्, इव, मन्ये, जाने, अवेमि, शंके इत्यादि के द्वारा सम्भावना का कथन हो वहाँ वह उत्प्रेक्षा वाच्य होती है।

स्वरूपोत्प्रेक्षा :–

जब जाति, गुण, क्रिया और प्रन्मला पदार्थो का तादात्म्य सम्बन्ध से जाति, गुण, किया और द्रव्य रूप पदार्थो का तादात्म्य सम्बन्ध से जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य रूप पदार्थों के साथ अभेद सम्भावित किया जाये तो स्वरूपोत्प्रेक्षा होती है। इसके अनेक भेद होते हुए भी केवल स्वरूपोत्प्रेक्षा ही चमत्कारी है।

हेतूफलोत्प्रेक्षा, या फलोत्प्रेक्षा–

यही सम्भावना जब हेतू या फल के रूप में की जाती है तब हेतू फलोत्प्रेक्षा, या हेतूत्प्रेक्ष कहलाती है। जातियुक्त स्वरूपोत्प्रेक्षा, गुणस्वरूपोत्प्रेक्षा, कियास्वरूपोत्प्रेक्षा, द्रव्यस्वरूपोत्प्रेक्षा, मालास्वरूपोत्प्रेक्षा आदि स्वरूपोत्प्रेक्षा के भेद हैं। मूलग्रन्थ में ये भेद हैं।

इसी तरह हेतूत्पेक्षा के भी विविध भेद हैं, गुण, जाति, क्रिया, फलोत्प्रेक्षा आदि प्राचीन आलंकारिकों के अनुरोध से ही हैं। वस्तुत: उनमें कोई चमत्कार नहीं हैं। उपर्युक्त सभी उदाहरण धर्म्युत्प्रेक्षा के हैं। धर्मोत्प्रेक्षा का उदाहरण निम्न है–

निधिं लावण्यानां तव खलु मुखं निर्मितवतो,
महा मोहं मन्ये सरसिरुपसूनोरुपचितम्।
उपेक्ष्यत्वां यस्माद्विधुमय मकस्मादिह कृती
कलाहीनं दीनं विकल इव राजानमतनोत्॥[१]

इस पद्य मेें मोह रुप धर्म का ब्रह्मा में समवाय सम्बन्ध से सम्भावना होने से उत्पेक्षा है।

जहाँ इन उत्पेक्षाओं का सांङ्कर्य हो वहाँ प्राधान्य के आधार पर उत्प्रेक्षा का विधान कर लेना चाहिए। उत्पेक्षा में स्वरूपोत्प्रेक्षा के स्थल में

१. रसगंगाधर, पृ० २९६

उत्प्रेक्षा का आधारभूत धर्म उपमा के समान विम्बप्रतिविम्बभावादि अनेक प्रकार का होता है तो वह कहीं उपात्त और अनुपात्त होता है और हेतुत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा में वह धर्म कल्पित होने पर भी विषयानिष्ठ स्वभाविक धर्म से अभिन्न रूप में अध्यवसित होकर निमित्त बन जाता है तो वह धर्म सदा उदात्त ही रहता है। इस प्रकार साधारण धर्म और विषय के आधार पर भी उत्प्रेक्षा के अनेक भेद सम्भव होते हैं।

समीक्षा:–

उपमा और रूपक के अनन्तर उत्प्रेक्षा का महत्वपूर्ण स्थान है। उत्प्रेक्षा के प्राय: दो भेदों धर्मोत्प्रेक्षा और धर्म्युत्प्रेक्षा को प्राय: सभी आलंकारिकों ने स्वीकार किया हैं, किन्तु पण्डितराज के मत में प्राचीनमत से विलक्षणता होता है।

प्राचीनमतानुसार धर्मोत्प्रेक्षा का स्थल वहाँ है जहाँ एक धर्म के साथ दूसरे धर्म का अभेद सम्बन्ध संभावित किया जाता हो। पण्डितराज के अनुसार धर्मोत्प्रेक्षा वहाँ होती है जहाँ एक धर्मी में अन्य धर्मिगत किसी धर्म की संभावना उसके साथ रहने वाले अन्य धर्म के रहने के कारण की जाती है। इसको उन्होंने विविध उदाहरणों से पुष्ट किया है। अर्थात् प्राचीनों में दोनों उत्प्रेक्षाओं में एक ही सम्बन्ध था। वह था अभेद और पण्डितराज के मत में वह पृथक-पृथक होकर भेद और अभेद हो जाता है।

अलंकार जैसे विषय में उत्प्रेक्षा के ही लक्षण विवेचन में न्याय शास्त्र का अवलम्बन लेकर दोनों ही उत्प्रेक्षाओं का लक्षण एक ही में कर देने से विषय सहृदयों के मानस पटल पर क्लिष्टता और पण्डितराज के कभी-कभी पाण्डित्य प्रदर्शन के भाव को द्योतित करता है।

अलंकार सर्वस्वकार आचार्य रूय्यक ने उत्प्रेक्षालंकार के सम्बन्ध में एक नवीन दृष्टिकोण विचार तथा स्वस्थ स्वरूप अभिव्यक्त किया। इन्होंने संभावना एवं अध्यवसाय के स्थान पर साध्य अध्यवसाय पद का प्रयोग किया है। इनके मत से अध्यवसाय में व्यापार की जब प्रधानता होती है, तब उत्प्रेक्षालंकार होता है इसके दो भेद हैं–

१- साध्य

२- सिद्ध

जब विषयी की असत्यता प्रतीत हो तो साध्य तथा जब असत्य विषयी का भी जब सत्य रूप में बोध हो तब सिद्ध अध्यवसाय होगा उत्प्रेक्षा में साध्य अध्यवसाय होता है। इसमें विषयी की प्रतीति सदा असत्य रूप में ही होती है। रूय्यक ने लिखा है–

''विषयनिगरणेनाभेदप्रतिपत्तिर्विषयिणोऽध्यवसाय:। स च द्विविध: साध्य: सिद्धश्च। साघ्यो यत्र विषयिणोऽसत्यतया प्रतीति:। असत्यत्वं च विषयिमतस्य धर्मस्य विषय उपनिबन्धे, विषयिसंभवित्वेन विषयासंभवित्वेन च प्रतीते:– तदेवमप्रकृत्गुणक्रियासम्बन्धादप्रकृतत्वेन प्रकृतस्य संभावनं उत्प्रेक्षा।''

रूय्यक की मान्यता है कि उत्प्रेक्षा केवल अभेद सम्बन्ध से ही होती है। फलत: उन्होंने–

सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां भ्रष्टं मया नूपुरमेकमूर्व्याम्।

अदृश्यत् त्वच्चरणारविन्दविश्लेषदु:खादिव वद्धमौनम्।।[१]

इस उदाहरण में नूपुर में रहने वाले मौनत्व को हेतु बनाकर दुखरूपी गुण की उत्प्रेक्षा की गयी है। इस उत्प्रेक्षा का नुपूर में रहने वाले 'शब्दहीन होना' से अभिन्न मात्र हुआ मौनत्व ही निमित्त है।

इसी प्रकार **लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाऽजनं नभ:** में लेपन क्रिया के लिप्त शब्द की उत्प्रेक्षा है और उसमें व्याप्त होना निमित्त है।[२]

पंण्डितराज के मत से रूय्यक के ये सारे मत या सिद्धान्त परस्पर विरोधी है। उन्होंने इसका खण्डन अपने ढंग से किया है। ''सैषा स्थली'' के प्रसंग में उन्होंने कहा है कि–

यदत्र मौनहेतुत्वेन नुपूरे विश्लेषदु:खमुत्प्रेक्ष्यते। तत्र निश्चलत्वनिमित्तक नि:शब्दत्वाध्यवसितं मौनं निमित्तम्। विश्लेषदु:खसमानाधिकरणत्वे सति नुपुरवृत्तित्वात्। न तु निश्चलनिमित्तके नि:शब्दत्वविषये विश्लेषदु:खहेतुक

१. चित्रमीमांसा उत्प्रेक्षा पृ० ३२३

२. रसंगाधर पृ० ३०१

मौनमभेदेनोत्प्रेक्षायमिव शब्दान्वितस्योत्प्रेक्षाया उत्सर्गसिद्धत्वात्। विषयस्य निगीर्णतया विषयिणो विधेयानुपपत्तेश्च। यद्यप्येकालप्रभवत्वादि अस्ति साधारणो धर्मो निमित्तम्। तथापि तस्याचमत्कारित्वादुपमायामिवोत्प्रेक्षायामप्यप्रयोजकत्वाच्च। एवं फलोत्प्रेक्षायामपि भवतीति रसगंगाधरे पण्डितराज:।[१]

किन्तु यथार्थरूप में देखा जाये तो ऐसी बात नहीं है। अपितु दीक्षित जी ने इसकी स्वीकृति कुछ सोच समझकर ही दी है। दीक्षित जी ने धर्मोत्प्रेक्षा के दो उदाहरणों में गुणरूप धर्म का उत्प्रेक्षा के उदाहरण ''अस्यां मुनीनामपि मोहमूले'' आदि के भेद सम्बन्ध से उत्प्रेक्षा की व्याख्या स्पष्ट किया है। हॉ, किया रूप धर्म के उत्प्रेक्षा के मतभेद के विषय में तो वहाँ भी विचार विमर्शोपरान्त यह सिद्ध कर दिया है कि वहाँ भी प्रथमान्त पद के अर्थ में प्रकृत क्रिया के कर्तृत्व की आश्रयता सम्बन्ध से अथवा कर्ता के अभेद सम्बन्ध से उत्प्रेक्षा मानने में कोई हानि नहीं है। जहाँ तक मौनत्व के अन्त: प्रविष्ट को मानकर ''सैषा स्थली यत्र'' इस स्थल पर अभेद के द्वारा लक्षण समन्वय प्रदर्शित किया गया है उसे पण्डितराज ने सिद्ध अवसान मानकर अतिशयोक्ति कहा है उस के विषय में रुय्यक ने अतिशयोक्ति और उत्प्रेक्षा भी सीमा निर्धारित करते हुए बताया है कि अतिशयोक्ति में विषय या उपमेय का जहाँ पूर्णतया निगरण हो जाता है। वहाँ उत्प्रेक्षा में विषय निगरण की प्रक्रिया की स्थिति में रहता है। ''मुख मानो चन्द्रमा है'' इत्यादि में प्रदर्शित अभेद सम्बन्ध से उत्प्रेक्षि के विषय में पण्डितराज के अतिरिक्त किसी को कोई आपत्ति ही नहीं है। भेद प्रभेदों के सम्बन्ध में सविस्तर प्रस्तुतीकरण यहाँ प्रासंगिक नहीं है। उत्प्रेक्षा अलंकार के कुल परम्परागत वाच्योत्प्रेक्षा ११२ और प्रतीयमानोत्प्रेक्षा के ६४ भेद = १७६ है। किन्तु पण्डितराज ने इन दोनों आलंकारिकों की परम्परा को माना है।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पण्डितराज का मत स्वाभाविक विरोध को लेकर ही है। अत: परम्परानुसार समीक्षा करने पर द्रविणपुङ्गव का मत ही समीचीन सिद्ध होता है।

१. अस्यां मुनीनामपि मोहमूहे भृगुर्महान् दत्कुचशैलशीली।
नानारदाहलादि मुखं श्रितोरूर्व्यासो महाभारत सर्ग योग्य:।।
चित्रमीमांसा उत्प्रेक्षा पृ० ३४१ (नैषध)

अतिशयोक्ति

अतिशयोक्ति सादृश्यगर्भ अभेद प्रधान अध्यवसायमूलक अर्थालंकार हैं। इसका कोषगत अर्थ—बढ़ा—चढ़ाकर किया गया कथन है। अर्थात् कथ्य को इतना अधिक बढ़ा चढ़ा कर किया जाये कि वह लोक सीमा को पार कर जाये। उपमान के साथ उपमेय का अभेदत्व या अभिन्नता ही अतिशय है। इस अलंकार में कवि के मन का नि:सीम विस्तार हो जाता है। वह किन्हीं दो पदार्थों में साम्य प्रदर्शित करता हुआ अपनी मानसी वृत्ति को एक पर ही इस प्रकार स्थिर कर देता है कि दूसरी उसमें सामने से सर्वथा सर्वदा के लिए अन्तर्हित हो जाती है। कवि ऐसी स्थिति में लौकिक सीमाओं का बन्धन तोड़कर कल्पना विहंग को इतना विस्तृत आयाम देता है कि कार्य की पूर्वभागिता या कारण की परभाविता का वर्णन कर लोक विरुद्ध कथन करता है। मुख्यत: कार्य का मूल उद्देश्य पाठक के मन में कौतूहल उत्पन्न करके चमत्कारोपत्ति करना होता है।

भामह ने अतिशयोक्ति अलंकार की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार की है।[१] दण्डी ने अन्यालंकार के आश्रय रूप में इसकी प्रतिष्ठा की है।

अलंकारान्तराणामप्येकमाहु: परायणम्।
वागीशमहिता मुक्तिमिमामतिशयाद्वयाम्।।

काव्यादर्श: २/२२०

मम्मटाचार्य ने सामान्य लक्षण न सही, केवल प्रभेदो का निरूपण किया है–[२]

अप्पय दीक्षित ने भी चित्रमीमांसा एवं कुवलयानन्द में इसका निरूपण

१. निमित्तो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्।
मन्यन्तेऽतिशयोक्तितमलंकार तया यथा।। काव्यालङ्कार २/८१

२. निगीर्याध्यवसानन्तु प्रकृतस्य परेण यत्।
प्रस्तुतस्य यदन्यत्वं यदर्थोक्तौ च कल्पनम्।।
कार्यकारणयोर्यश्च पौर्वापर्यविपर्यय:
विज्ञेयातिशयोक्ति: सा। काव्य प्रकाश, १०/१७/१७०

क्रिया है। दीक्षित जी सर्वप्रथम विद्यानाथ के प्रतापरूद्रीय से अतिशयोक्ति का लक्षण देते हैं–

विषयस्यानुपादानात् विषयुपनिवध्यते।
यत्र सातिशयोक्ति: स्यात् कवि प्रौढ़ोक्तिजीविता।।

चित्रमीमांसा अति. प्र०पृ० ४०१

रूपकातिशयोक्ति: स्यान्निगीर्णाध्यवसानत:।
पश्यनीलोत्पलद्वन्द्वान्ति सरन्ति शिता: सर:

कु०अति: पृ० ३८

चित्रमीमांसा में वर्णन अपूर्ण ही दिखलाई पड़ता है जैसा कि इस श्लोक से स्वत: ही स्पष्ट है।[१]

पण्डितराज ने अतिशयोक्ति का निम्न लक्षण दिया है– ''विषयिणा विषयस्य निगरणमतिशय: तस्योक्ति:।'' अतिशय का अर्थ है विषयी के द्वारा विषय का निगरण और उक्ति का अर्थ है इस प्रकार के निगरण का वर्णन करना। अर्थात् विषयी के द्वारा विषय के निगरण[२] का वर्णन ही अतिशयोक्ति है। अतिशयोक्ति में अभेद नहीं होता है जैसे रूपक में विषय में विषयी दोनों उपस्थित रहते हैं अत: अभेद रहता है किन्तु यहाँ उसका अभाव होता है। रसगंगाधर में इसका उदाहरण निम्न है–

कलिन्दगिरिनन्दिनी तटवनान्तरं भासय-
न्सदापथि गतागत क्लं भरं हरन्प्राणिनाम्।
स्फुरत्कनककान्तिभिर्नवलताभिरावेल्लितो,
ममाशु हरतु श्रमानतितमां तमालद्रुम:।[३]

अतिशयोक्ति के विविध भेद सावयवा, निरवयवा रूप मे प्रथमत: दो

१. अप्यर्ध चित्रमीमांसा न मुदे कस्य मांसला।
अनूरूरिव धर्माशोरर्धेन्दुरिव धूर्जटे:।। चित्रमीमांसा ग्रन्थ सं०, पृ० ४१७

२. रसंगाधर, पृ० ३०६

३. वही, पृ० ३०८

प्रकार की होती है। आगे चलकर सम्बन्धासम्बन्ध, साधरणधर्म, भेदाभेद, कार्यकारण के विषर्यय के आधार पर इसके विविध भेद हो सकते हैं प्राचीनों का भी यही मत है।

''एतद् भेदपंचकान्यतमत्वमतिशयोक्ति सामान्यलक्षणं''[1] किन्तु मम्मटाचार्य ने सम्बन्धासम्बन्ध के भेद को अस्वीकार किया है। नव्यमत से निगीर्याध्यवसान ही अतिशयोक्ति है। अन्य कोई भी भेद प्रमाण के अभाव में अन्य अलंकार ही हो सकता है। अतिशयोक्ति का भेद नहीं। दीक्षित ने विद्यानाथ के अतिशयोक्ति अलंकार के लक्षण को उद्धृत किया जो कि निम्नवत् है।[2] अर्थात् जहाँ विषय का उपादान न करते हुए केवल विषयी का निबन्धन किया जाये। इस प्रकार इसके चार भेद माने गये हैं–

१- भेदेऽभेदः २- अभेदे भेदः ३- सम्बन्धेऽसम्बन्धः ४-असम्बन्धेसम्बन्धः।

भेद में अभेद यथा :

कमलमनम्भसिकमले कुवलयमेतानि कनकलतिकायाम्।
सा च सुकुमारसुभगेत्युत्पातपरम्पराकेयम्।।[3]

यहाँ कमल, कुवलय और कनकलतिका का नायिका के मुख, नेत्र और शरीर से भेद होने पर भी अभेद माना जाता है। भेद में अभेदरूपा अतिशयोक्ति है।

अभेद में भेद यथा :–

अन्येयं रूपसम्पत्ति रन्या वैदग्ध्यधीरणी।
नैषा कमलपत्राक्षी सृष्टिः साधारणीविधेः।।[4]

यहाँ रूप आदि में अभिन्न होने पर भी अन्य आदि के प्रयोग से भेद है।

१. रसंगाधर पृ० ३१३
२. विषयस्यानुपादानात् विषय्युपनिवध्यते।
यत्र सातिशयोक्तिः स्यात्कविप्रौढोक्तिजीविता।। चित्रमीमांसा पृ० ३१९
३. चित्रमीमांसा, पृ० ३२०
४. वही

सम्बन्ध में असम्बन्ध यथा :–

''अस्याः सर्गबिधौ प्रजापतिर भूच्चन्द्रोनुकान्तिप्रदः
शृंगारैक रसः स्वयं नुमदनो मासो नु पुष्पाकरः।
वेदाभ्यासजड़ः कथं स विषयः व्यावृत्त कौतूहलौ।।
निर्मातुं प्रणवेम्मन्मेहर मिदं रूपं पुराणो मुनिः।।[1]

प्रस्तुत पद्य में नायिका के अपूर्व रूप का प्रजापति द्वारा सृजन सम्बन्ध होने पर भी सम्बन्ध नहीं माना गया है। अतः सम्बन्धेऽसम्बन्ध रूप अतिशयोक्ति है।

असम्बन्ध में सम्बन्ध यथा–

दाहोम्मः प्रसृतिम्पचः प्रचमन्वान्वाष्पः प्रणालोचितः
श्वासाः प्रेंखितदीप्तदीपकलिकः पण्डिम्निमग्नं वपुः।
किच्चान्यत्कथयामि रात्रिमखिलं त्वनमार्गवातायने
हस्तच्छत्रनिरूद्धचन्द्रमहसस्तस्याः स्थितं वर्तते।।[2]

यहाँ चन्द्रादिकिरणों का दावादि से सम्बन्ध न होने पर भी सम्बन्ध माना गया है। अतः असम्बन्धे सम्बन्धः रूपा अतिशयोक्ति है।

किन्तु इसके बाद ही दीक्षित ने ''विषयस्यानुपादानात्'' अंश की आलोचना की है– ''विषय का उपादान न करते हुए'' इस अंश के दो अर्थ हो सकते हैं।

१- जहाँ विषय के प्रतिपादक अर्थ का अभाव हो।
२- जहाँ विषय के वाचक पद अभाव हो।

यदि हम पहला अर्थ लेते हैं तो विद्यनाथ का लक्षण घटित नहीं हो सकेगा यथा भेदे अभेदे के उदाहरण में कमल शब्द लक्षणा से मुख का प्रतिपादक हो ही जाता है, भले ही वह वाचक न हो। यदि दूसरा अर्थ लेते

१. चित्रमीमांसा, पृ० २१२
२. वही, पृ० ३२०

है तो ''चुम्बतीव रजनी मुखं शशी' में विद्यानाथ का लक्षण घटित नहीं होगा। अतः इसके निवारणार्थ काव्यशास्त्रियों ने विषयस्यानुपादानात् के निम्न अर्थ किए हैं—[१]

१- जहाँ विषय प्रतिपादक शब्द से पृथक विषय प्रतिपादक शब्द का अभाव हो। ऐसे में भी उक्त लक्षण की संगति नहीं बैठेगी।

यथा—

पल्लव कल्पतरोरेष विशेषः करस्यते वीर,
भूषयति कर्णमेकः परस्तु कर्ण तिरस्कुरूते।।[२]

२- जहाँ विषयी प्रतिपादक से सर्वथा विलक्षण, विषय प्रतिपादक का अभाव हो, ऐसा मानने पर भी लक्षण निर्दोष नहीं हो सकता है यथा—

उरोभुवा कुम्भयुगेन जृम्भितं,
नवोपहारेण वयस्कृते न किम्।।
त्रपासरिद्दुर्गमपि प्रतीर्य सा।
नलस्य तन्वी हृदयं विवेशयत्।।[३]

अतः दीक्षित के मत में विद्यानाथ का लक्षण निर्दुष्ट नहीं है।

चित्रमीमांसा में १२ अलंकार ही चित्रकाव्य के उपस्कारक हैं। सामान्यतः आलंकारिकों ने सभी अलंकारों को चित्रकाव्य का उपस्कारक माना है। कुवलयानन्द में अतिशयोक्ति वर्णन पूर्णतः होने के कारण रसगंगाधरकार ने उसी की समीक्षा की है। कुवलयानन्द ने अतिशयोक्ति का निम्नवत् लक्षण दिया है।[४]

''विषयस्य स्वशब्देनोल्लेखन विनापि विषयिवाचकेनैव शब्देन ग्रहणं विषयनिगरणं तत्पूर्वकविषयस्य विषयिरूपतयाअध्यवसानमाहार्य निश्चयस्तस्मिन् सति अतिशयोक्तिः।''

---

१. चित्रमीमांसा, पृ० १५३
२. वही, पृ० ३२२
३. वही, पृ० १९३
४. कुवलयानन्द, पृ० ४४

अर्थात् जहाँ विषय का स्वशब्द से निर्देश न हो अपितु विषयी के वाचक शब्द द्वारा उसका बोध हो वहाँ अतिशयोक्ति होती है। इसी को चित्रमीमांसा सुधा व्याख्याकार धरानन्द ने इस प्रकार रखा है–

''विषयोल्लेखनमृते विषयाध्यवसायात्माभिधानतः।
तस्योक्तिर्व्यंग्यभिन्ना यातिशयोक्तिः सा मता।।[१]

व्यंजनावादी आचार्य मम्मट ने इसकी महत्ता इतनी स्वीकार की है कि इसके बिना उनके मत में कोई अलंकार ही नहीं हो सकता है।[२] आलंकारवादियों ने इसे सभी का जीवन कहा है। मम्मट और कुन्तक ने इसी को वक्रोक्ति कहा है। किन्तु पण्डितराज ने कुवलयानन्द को आधार मानकर इसकी आलोचना की है। उन्होंने रसगंगाधर में अतिशयोक्ति प्रकरण में निम्न श्लोक को सामने रखकर समीक्षा की है :—

जगज्जालं ज्योत्स्नामयनवसुधाभिर्जटिलय-
जनानां संतापं त्रिपिधिमपि सद्यः प्रशमयन्।
श्रितो वृन्दारण्यं नत निखिल वृन्दारकनुतो।
ममस्वान्तध्वातं तिरयतु नवीनो जलधरः।।[३]

डॉ० गुज्नेश्वर चौधरी ने इस पर प्रकाश डालते हुए अपनी पुस्तक में लिखा है— ''अत्र विषयधर्मविशिष्टतया कल्पितेन लोकोत्तरजलधररूपेण भगवतः प्रतिपादने तत्समानाधिकरणत्वेन कल्पितानां विषेषणांनामानुगुण्यम्। एवम् च निगीर्णे सर्वत्रापि विषयितावच्छेदकधर्मरूपेणैव विषयस्य भानम्''[४] तेनावाप्य भेदातिशयोक्ति स्ताद्रूप्यातिशयोक्तिरिति द्वैविध्यं कुवलयानन्दे यदुक्तं तन्निरस्तमिति पण्डितराजभिप्रायः।।''[५]

---

१. चित्रमीमांसा, पृ० ३२५
२. सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थोविभाव्यते।
यत्नोऽस्यांकविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया बिना।। काव्य प्रकाश
३. रसांगाधर अभि., पृ० ३१०
४. पण्डितराजकृताप्यदीक्षितसमीक्षाविचेनम्, पृ० १०४
५. रसगंगाधर अति०, पृ० ३१०

किन्तु पण्डितराज के इस मत का नागेश ने अपने गुरू मर्म प्रकाश टीका में खण्डन करते हुए श्री दीक्षित के मत का ही मण्डन किया हैं। उनके मत से पण्डितराज का किया गया खण्डन मम्मटाचार्य के काव्य प्रकाश पर आधारित है। इसके लिए उन्होंने कुवलयानन्द के निम्नलिखित पद्य को समक्ष रखते हुए व्याख्या की है—

सुधावध्दग्रासैरूपवनचकोरैरनुसृताम्
किरंज्योत्स्नामच्छां लवलिफलपाकप्रणयिनी।
उपप्राकाराग्रं प्रगृणु नयने तर्कयमना-
गनाकाशे कोऽयं गलितहरिण: शीतकिरण:।[१]

इत्यादौ प्रसिद्धविषयितावच्छेदक प्रकारकबोधस्य बाधबुद्धि पराहतत्वात्को अयमित्यनेन निरस्तत्वाच्चावश्यं चन्द्रकार्यकारित्वप्रकारकबोधोअंगीकार्य:। एषैव च ताद्रूप्यातिशयोक्ति– कहकर डॉ० गुज्जेश्वर ने व्याख्यायित किया है जिससे कि हम भी सहमत हैं। अत: नागेश जी ने दीक्षित के मत का मण्डन युक्ति संगत ही किया है।

अतिशयोक्ति की ध्वनि

देवत्वदर्शनादेव लीयन्ते पुण्डराशय:
किं चादर्शनत: पापमशेषमपि नश्यति।।[२]

अत: यहाँ जन्मशतोपभोग्य सुख- दु:ख का दर्शनादर्शनजन्य सुख-दुख से निगरण यहाँ ध्वनित होता है। पण्डितराज के मत से अतिशयोक्ति में अभेद अनुवाद्य रहता है और रूपक में विधेय। यही दोनों का भेद है।

समीक्षा :

पण्डितराज ने अतिशयोक्ति अलंकार का समीक्षात्मक विवरण प्रस्तुत किया है जो कि नवीन और प्राचीन दोनों दृष्टियों से ही पर्याप्त है। अतिशय और अतिशयोक्ति का सूक्ष्म विवेचन पण्डितराज ने किया।

१. कुवलयानन्द अति०, पृ० ३९
२. रसगंगाधर, पृ० ३१३

निगरण को पूर्व की भांति अलंकार न मानकर उस निगरण के कथन को अलंकार न मानकर उस निगरण के कानि को अलङ्कार मानना पण्डितराज भी नवीन तर्कणा है। प्राचीनों के भेदों को नव्य: कहकर किया गया खण्डन वस्तुत: इन्हीं की देन है, किन्तु पण्डितराज की खण्डनात्मक बुद्धि व्याकरण और नैयायिक नय के आधार पर आधारित होने से दीक्षित जी का किया गया खण्डन इनके स्वाभाविक विरोध को ही प्रदर्शित करता है जो कि युक्तिसंगत नहीं है।

❖

उपसंहार

प्रस्तुत विवेचन से यह पूर्णतया स्पष्ट है कि अनन्त काव्यशास्त्र में प्रखरप्रज्ञा एवं उत्कृष्टमेधा के धनी अलंकारवारी आचार्य दीक्षित जी का एवं काव्य शास्त्रीय मन्थन के अनन्तर नि:सृत अमृतमयी कृति रसगंगाधर के प्रेणता प्रखर समालोचक, सर्वविद्या निष्णात आचार्य पण्डितराजजगन्नाथ इन दोनों का अभूतपूर्व योगदान है। एक इस काव्याकाश का सूर्य है, तो दूसरा चन्द्र और दोनों का ही अपने-अपने स्थान पर अद्वितीय महत्व है।

दीक्षित जी ने 'चित्रमीमांसा' गन्थ का प्रणयन करके अलङ्कार प्रधान वर्णनात्मक चित्रकाव्य को उत्कृष्ट स्थान दिलाया। उनके विचार से अलङ्कार प्रधान, वर्णनात्मक चित्रकाव्य, व्यंग्य प्रधान, ध्वनि काव्य से भी किसी भी माने में कम नहीं है। प्रस्तुत शोधप्रबन्ध के परम्पराप्राप्त शास्त्रीय ग्रन्थों के गहन आलोचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि दीक्षित जी की धारणा परम्परावादी काव्य शास्त्रियों की धारणा से सर्वथा भिन्न है। प्राय: सभी काव्यशास्त्रियों ने जिनमें व्यंजनावादी आचार्य प्रमुख हैं, चित्रकाव्य को अधम काव्य की श्रेणी में रखा है।[१] विश्वनाथ आचार्य ने इसका उल्लेख करके भी इसके रंच मात्र महत्व को मानना भी स्वीकार नहीं किया। उनके मत से केवल दो ही काव्य के प्रकार हैं:–

१- ध्वनिकाव्य

२- गुणीभूत व्यंग्य

पण्डितराज जगन्नाथ इसे गुणीभूत व्यंग्य में ही समाहित करते हैं और इसे गुणीभूत काव्य का अजागरूक प्रकार बतलाते हैं। किन्तु इन सबसे हटकर आचार्य दीक्षित जी ने चित्रमीमांसा ग्रन्थ का प्रणयन करके यह सिद्ध किया है कि चित्रकाव्य भी ध्वनिकाव्य के समान उत्तम अथवा उत्तमोत्तम कोटि में आ सकता हैं।

१. शब्द चित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यत्ववरं स्मृतम्। काव्यप्रकाश प्रथम उल्लास, सू० ५

काव्यशास्त्रीय निष्कर्ष पर तलस्पर्शी चिन्तन के उपरान्त यह तथ्य उभरता है कि इनकी कृतियों में काव्य के चरमलक्ष्य रस के विषय में कुछ भी नहीं कहकर केवल रसोत्पत्ति के माध्यम को खोजने का प्रयास किया गया है और उस पर विस्तृत चर्चा की है। किन्तु यहाँ भी मतभेद है। व्यञ्जनावादी आचार्यो के मत से रसनिष्पत्ति पद और पदार्थ के व्यंग्य–व्यञ्जक भाव से होती है। यही कारण रहा कि उन्होंने अभिधा, लक्षणा के अतिरिक्त व्यञ्जनावृति को भी स्वीकार किया है। किन्तु दीक्षित जी इससे असहमत होते हुए एक नवीन तथ्य और सर्वग्राही चिन्तन प्रस्तुत करते हैं कि जैसे व्यंग्य के माध्यम से वैसे ही अलङ्कार के प्रयोग से भी रस निष्पत्ति होती है। संस्कृत साहित्य के सुधी, सहृदय पाठकों से यह तथ्य किसी भी प्रकार से नहीं छिपा है कि कवि कुलगुरूकालिदास, करूणरस को ही आत्मा मानने वाले आचार्य भवभूति आदि के उच्चस्तरीय प्रबन्ध सहृदय मनस में व्यञ्जना से नहीं अपितु चित्रोपस्थिति के कारण ही उच्चकोटि की श्रेणी में आते हैं। राजा दुष्यन्त शिकार कर रहे हैं मृग का और मृग की उच्चावच गमन अरण्य के बीच विविध चित्र-विचित्र स्थितियों में ऐसा दृष्टांत प्रस्तुत करता है कि पाठक मन्त्रमुग्ध सा ''अभिज्ञान शाकुन्तलम्'' के रससरोवर में अपने को भुला बैठता है। आचार्य भवभूति की लेखनी की अद्भुत चित्रकारिता का ही प्रमाण है कि राम को रोता हुआ देखकर पत्थर भी रोने लगते हैं, सरल हृदयों की क्या विशात्।[१]

अत: दीक्षित जी का यह कथन उचित है और हम व्यंग्यप्रधान काव्य को ही काव्य माने तो शायद दो–तीन को छोड़कर कोई ग्रन्थ संस्कृत साहित्य में उत्तम काव्य की श्रेणी में आ सके। व्यंजनावादी के पास इस आशंका का कोई समाधान नहीं हैं। अत: हम दीक्षित जी के इस तथ्य से पूर्णत: सहमत है कि जिस प्रकार व्यंग्यहीन, वर्णनात्मक, प्रतिकृतिरूप काव्य यदि वह वैचित्र्य, चमत्कृति और रमणीयता से परिपूर्ण है, तो रसास्वाद प्रस्तुत करने में उसी प्रकार पूर्ण सफल हो सकता है, जिस प्रकार दृश्य काव्य के अचेतन दृश्य।

दीक्षित जी ने अलंकार को अलंकार ध्वनि से पूर्णतया पृथक माना

१. अपिग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्। उत्तरामचरितम्

और अलंकार ध्वनि में अलंकार लक्षण की अतिव्याप्ति न हो इसके लिए अव्यंग्य शब्द का प्रयोग किया है।[१] उपमा अलंकार के प्रसंग में हम यह पाते हैं कि वस्तु, अलंकार और रसात्मक तीनों भेदों को महाकवियों के काव्यों से उद्धृत किया गया है। वे एक साथ और अलग–अलग भी रह सकते हैं।[२] किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि चित्र और ध्वनितत्व परस्पर विरोधी हैं। वस्तुत: दोनों के सहयोग से एक अति उत्कृष्ट कोटि के काव्य का निर्माण हो सकता है। दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। ध्वनि काव्य में चित्र भी रह सकता है और चित्र काव्य में ध्वनि भी रह सकती है और जो प्रधान होगा उसी से काव्य की संज्ञा होगी। दीक्षित जी का अपनी चित्रमीमांसा कृति के माध्यम से इस तथ्य का उद्घाटन करना लक्ष्य था। ताकि वाच्य प्रधान अलंकारोपस्कृत प्रतिकृति रूप चित्रकाव्य उसी प्रकार रसास्वादन में सहायक हैं जिस प्रकार व्यंग्यात्मक ध्वनि काव्य। दूसरे वही अलंकार जो चित्र काव्य को अलंकृत करते हैं, ध्वनिकाव्य को भी अलंकृत कहते हैं। कभी कभी कुछ बातें इनके अन्य ग्रन्थों से भी लेनी अपरिहार्य थी, किन्तु मूलत: प्रस्तुत ग्रन्थ का उस प्रसंग से सम्बन्ध न होने के कारण मुझे अपने मोह को छोड़ना भी पड़ा है।

पण्डितराज की जहाँ तक बात हैं उन्होंने अपनी प्रखर मेधा से न केवल सबका खण्डन अपने पाण्डित्य-प्रकर्ष पर किया, अपितु नवीन दृष्टि या नवीन सिद्धान्त को भी स्थापित किया। यही कारण है कि अन्तिम अलंकार शास्त्री होते हुए भी इनका स्थान वहीं है जो आचार्य मम्मट और आनन्दवर्धनाचार्य का रहा है। पण्डितराज के शास्त्रीय ग्रन्थों का गहन चिन्तन करने पर उनकी शैली की निम्न विशेषतायें दृष्टिगोचर होती हैं जिनका उन्होंने अवलम्बन्न किया। न्यायप्रधान लक्षण, मीमांसा प्रधान, वेदान्त प्रधान, शास्त्रीय पीठिकाप्रधान और कहीं-कहीं खण्डायमानरीति से किया गया लक्षण इनके शास्त्रीय ग्रन्थ की विलक्षणता है जो कि इन्हें अन्यों से अलग करता हैं। न्याय का पण्डिराज के उपर इतना प्रभाव था कि वे उससे अपने को कहीं भी मुक्त नहीं रख सके। लक्षणगत प्रत्येक पद की स्वयं

१. यदव्यंग्यमपि चारु तच्चित्रम्। चित्रमीमांसा, पृ. ३५

२. चित्रमीमांसा, पृ. ११८, ११९

सार्थकता तथा सप्रयोजकता सिद्ध करना उनके महत्वपूर्ण अंग थे। पदकृत्य का अधिकांशत: प्रयोग उन्होंने अपने मत की सिद्धि के लिए तथा पर मत खण्डन दोनों में ही किया है। इनकी तीसरी विशेषता यह है कि ये परमतर खण्डन में भी अधिक कुशल हैं। अलंकार शास्त्रीय ग्रन्थों में धन्य है– रसगंगाधर और विलक्षण है रसगंगाधरकार का परमत खण्डन। अपने मुख्य उद्देश्य कि परम्परा से प्राप्त विविध मतों की समीक्षा करना तथा किसी एक का उत्कर्ष सिद्ध करना। इन्होंने तर्क की कसौटी पर कसने के उपरान्त ही किसी सिद्धान्त को स्वीकार किया है। समकालीन अप्पय दीक्षित और प्राचीन आलंकारिकों के समालोचना के समय पूज्यभाव का लोप करते हुए पण्डितराज की भाषा में भेद स्पष्टतया दृष्टिगोचर हुआ है। अप्पय दीक्षित के खण्डन में भाषा कटु, कटाक्षपूर्ण एवं असुन्दर तथा अशिष्ट है जिससे यह प्राय: सिद्ध होता है कि ये अपने पूर्वाग्रही दोष से ग्रसित होकर दीक्षित जी का खण्डन कर रहे है। जबकि मम्मटादि के प्रति खण्डन करते समय इनकी भाषा विनम्र तथा आदरयुक्त हैं। एतदर्थ पण्डितराज के द्वारा प्रस्तुत विविध विन्दुओं पर एक अवलोकन आवश्यक है।

मम्मट के मत का खण्डन :

उपजीव्य होने पर भी पण्डितराज जगन्नाथ तर्क भी कसौटी पर किसी को भी नहीं छोड़ते। सर्वप्रथम मम्मट पर प्रहार तथा उनकी शैली तो देखिए–

''यत्तु प्राञ्चः ''अदोषौ सगुणौ सालंकारो शब्दार्थौ काव्यम्'' इत्याहु:, तत्र विचार्यते शब्दार्थयुगलं न काव्यशब्दवाच्यम्, मानाभावात् गुणालंकारादि निवेशोऽपि न युक्त:'' इत्यादि। रसंगाधर पृ० ५-६

विश्वनाथ सम्मत लक्षण की आलोचना दृष्टव्य है–

''यत्तु रसवदेव काव्यम्, इति साहित्य दर्पणे निर्णीतम् तन्त्र वस्त्वलंकारप्रधानानां काव्यानाम काव्यत्वापत्ते:। रसगंगाधर पृ० ६

आनन्दवर्धनाचार्य पर भी टिप्पणी करने से न चूकते हुए कहते हैं–

'आनन्दवर्धनाचार्यास्तु' प्राप्त श्रीरेषकस्मात् पुनरपि-इत्यादौ .... चमत्कारिण्यपि चात्र भ्रान्तिरेवेति ध्वनिरपि तस्या एव युक्त:।[१]

१. रसगंगाधर, पृ. २४७-२४८

यहाँ भाषा कितनी शिष्ट, सुष्ठु एवं सन्तुलित है।

मम्मटादि के समान रूय्यक को भी कहीं प्रतिवादी और कहीं प्रमाण के रूप में उद्घृत् किया गया है। अलंकार सर्वस्वकार की प्रामाणिकता दीक्षित जी के प्रति स्वीकृत है।

अलंकार सर्वस्वीकार रूय्यक के खण्डन में भी भाषा कटु अथवा क्लिष्ट नहीं है।

यथा:–

''इत्यलङ्कारसर्वस्वकारदिभिरूक्तं तत्र विचार्यते–विरोधमूला हि विभावनाद्यलड्ंकार:। कुत: पुनरूक्तनिमित्ता विभावना? इत्यादि।''[1]

पण्डितराज ने अलङ्कार सर्वस्वीकार तक को कहीं-कहीं प्रामाणिक आचार्य की मान्यता दी है, किन्तु अप्पयदीक्षित को सर्वत्र अप्रामाणिक ही घोषित किया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में कहीं भी उनका अनुमोदन प्राप्त नहीं होता। मम्मटाचार्य, रूय्यक आदि के विषय में प्रयुक्त भाषा तथा दीक्षित के खण्डन में प्रयुक्त भाषा में जमीन-आसमान का अन्तर है। यथा-मम्मटादि के लिए **'तच्चिन्त्यम् अथवा तत्र विचार्यते, तदपि न रमणीयम् आदि परन्तु दीक्षित के लिए-तदसत्, तत्तुच्छम, किंयुक्तंद्रविणपुङ्गवेन तथा केनापि आलङ्कारिकम्मन्येन प्रतारितस्य दीर्घश्रवसउक्तिरश्रद्धयैव'** जैसे व्यङ्ग्य भी कसे गये हैं। पण्डितराज की दृष्टि में तो ऐसा लगता है मानो दीक्षित जी आलङ्कारिक हैं ही नहीं। वे मात्र अलङ्कार सर्वस्वीकार के अनुवादक हैं। उनका कोई भी मत अमान्य ही नहीं अपितु उपेक्षणीय भी था। अप्पय दीक्षित के सिद्धान्त की तीव्र एवं कटु आलोचना का अन्योन्यालङ्कार अच्छा उदाहरण है। अप्पय के मत को अक्षरश: उद्घत करने के बाद उसकी वाक्य संरचना के द्वारा ही व्युत्पत्ति शैथिल्य प्रमाणित कर दिया गया है। सर्वत्र खण्डन ही प्रधान हैं, किन्तु प्रबन्ध का विषय न होने एवं अतिविस्तार भय से यहां देना अप्रासंगिक होगा सुधी जन इसे रसगंगाधर के पृ० ४५५-४५६ पर देख सकते हैं।

पण्डितराज ने परमतखण्डन दो आधारों पर किया है–

१. रसगंगाधर, पृ. ४३५-४३६

१- लोक व्यवहारशास्त्र से विरोध दिखलाकर

२- अनुभवसिद्ध दिखलाकर।

पण्डितराज भावयित्री की प्रतिभा के साथ-साथ कारयित्री प्रतिभा के भी धनी हैं जैसा कि एक जगह उन्होंने स्वयं कहा है–

निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं काव्यं मयात्र विहितं न परस्य किञ्चित्।

किं सेव्यते सुमनसां मनसापि गन्ध: कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण ।।[1]

इतना सब कुछ होते हुए भी पण्डितराज की शैली में कुछ न्यूनतायें भी हैं। किसी एक भी आलङ्कारिक को सर्वत्र प्रामाणिक नहीं माना। समकालीन आलङ्कांरिकों के खण्डन के समय जो मम्मट प्रामाणिक आचार्य थे वही कुछ क्षण पश्चात् ही प्रतिवादी के रूप में सम्मुख आते हैं और उनका कोई भी सिद्धान्त प्रमाणस्वरूप नहीं रहता है। जैसा कि काव्य लक्षण के प्रसंग में प्रतिवादी मानकर किस तरह मम्मटाचार्य का खण्डन किया गया है यह देखने लायक है–

''काव्यमुच्चै: पठ्यते, काव्यादर्थोव्यग्यते, काव्यंश्रुतमर्थो न ज्ञात: विमतवाक्यंत्वश्रद्वेयमेव।''[2]

सारांश तो यह है कि रूय्यक या अपप्य दीक्षित के मत का खण्डन करते समय काव्यावतार मम्मट व आनन्दवर्धनाचार्य इत्यादि प्रामाणिक आलङ्कारिक हो जाते हैं तथा उनके ही मत को खण्डित करते समय वह नितान्त अप्रमाणिक हो जाते हैं। अत: ये प्राचीनों में अनुमन्ता है कि आधुनिकों के यह कह पाना बड़ा ही कठिन है।

इनकी एक कमी यह भी है कि उन्होंने अपने मत को कभी-कभी स्पष्ट न कहकर घुमा-फिराकर कहा हैं। कभी-कभी ऐसा भी हुआ है कि परमत को अपनी भाषा में कहते हुए उन्होंने अपनी ओर से उसमें संशोधन भी कर दिया है। अत: उनके मत से मिश्रित परमत एक व्यामिश्र मत हो जाता है और दोनों को अलग-अलग करने में कठिनाई होती हैं। अत: स्पष्टता का अभाव

१. रसगंगाधर, पृ. ३

२. वही, पृ. २२-२३

इनकी एक सबसे बड़ी कमी है। जबकि नैयायिक होने के नाते इसे स्पष्ट करना इनका सबसे बड़ा धर्म होना चाहिए। पण्डितराज की अपनी ही मान्यताओं में विरोध दिखाई देता है और कहीं विषय की सूक्ष्मता को भेदों का आधार माना गया है तो कहीं उसी को बाधक माना गया है। उदाहरणार्थ–अलङ्कारों के प्रकारों के प्रदर्शन की बात आयी तो कहा कि यदि प्रत्येक उक्तिवैचित्र्य के सूक्ष्म भेद को लेकर नवीन अलङ्कार माना जायेगा तो अलङ्कार अनन्त हो जायेंगे क्योंकि वाग्भंङ्गी अनन्त है। उसी सूक्ष्मता का प्रसंग जब काव्य के भेद करते समय आया तो कह दिया गया कि यदि शब्दार्थालङ्कार में होने वाले व्यंग्यार्थ के चमत्कार के सूक्ष्म भेद को न माने और केवल अलङ्कारत्व के आधार पर दोनों को अधम काव्य कहा जाये तो ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य के सूक्ष्म भेद को भी नहीं मानना चाहिए। इसी प्रकार कई स्थल हैं। एक विषय का इन्होंने कई-कई बार कथन किया है। अत: पिष्ट-पेषण खटकता है। इनकी एक कमी यह भी है कि एक विषय का निरूपण एक स्थान पर न करके कई जगहों पर थोड़ा-थोड़ा करके किया है। पण्डित्य के कारण दुराग्रह की झाकी हमें अप्पय दीक्षित के खण्डन में दिखाई पड़ती है। वस्तुत: अप्पय दीक्षित का जो मत हैं उसे ठीक ढंग से न कहकर अपने खण्डन के अनुरूप बनाकर खण्डित करना पण्डितराज का वैशिष्ट्य रहा है। विशेषकर वहाँ जहाँ दीक्षित ने स्वयं व्याख्या नहीं की है वहाँ ये पूर्णरूपेण स्वतन्त्र होकर विचरण करते हैं। दीक्षित का खण्डन तो कहीं केवल विशेष पद व्याकरण की दृष्टि से असंगत है कहकर यह उदाहरण दुष्ट है यथा :–

''यदपि तेनैवादोहतम्–यक्ष्याशया हि मन्जूषां इति पदकांक्षिततया न्यूनपदम्।।''[१]

अप्पयदीक्षित के लिए एक बार नहीं अपितु अनेकश: अपशब्द का प्रयोग प्रौढ़ बुद्धि जगन्नाथ के लिए रंचमात्र भी प्रशंसनीय नहीं हैं। यथा:–

''अलङ्कारशास्त्रतत्वानवबोधनिबन्धनम्'।[२]

---

१. रसगंगाधर, पृ. ४४७

२. वही, पृ. १३

तथा– 'द्रविणशिरोमणिभि:'।[१]

केनापि आलङ्कारिकं मन्येन प्रतारितस्य दीर्घश्रवस्य उक्तिरश्रद्धेयैव:''।[२]

''सहृदयैराकलनीयं कियुक्तंद्रविणापुङ्गवेनेति''।[३]

पण्डितराज द्वारा मतवादी का नामोल्लेख न करना भी एक बड़ा दोष है। नैयायिक का एक बड़ा गुण यह है कि वह भाषा में वक्तव्य की स्पष्टता का ध्यान रखे तथा एक दोष भी है कि इससे क्लिष्टता भी आ जाती है और पण्डितराज भी इसके अपवाद नहीं है। अत: सैद्धान्तिक को छोड़कर सामान्य विषय प्रतिपादन में वह अनुकूल सिद्ध नहीं होता है।

चित्रमीमांसा में दीक्षित जी का लक्ष्य केवल सहृदयजनों में सन्तोष हेतु नहीं था अपितु उनके समक्ष अपने युग की पृष्ठभूमि में चित्रकाव्य की शुष्क समस्याओं के रहस्य का उद्घाटन करना था। एक ओर वे चित्रमीमांसा की रचना करते हैं, दूसरी ओर चित्र विधान की योजना करते दिखलाई पड़ते हैं। वे कठोर यथार्थवादी की तरह सभी चित्रों को ठोस रूपों में रखने की कोशिश करते हैं। दीक्षित जी का चित्राविधान उस रूप में होना आवश्यक है जिससे कवि की विशद भावनाओं को एक व्यवस्थित अभिव्यक्ति मिल सके। विशेषकर उक्त भावना का स्पष्टीकरण तो होना आवश्यक है। जो कवि का विशेष लक्ष्य रहा है। ''चित्रमीमांसा में वे कितने तलस्पर्शी अवगाहन का परिचय देते हैं इसे कोई भी सुधी समालोचक स्वयं देख सकता है। व्याख्याकार नागेशभट्ट ने समय-समय पर उनकी व्याख्या में तर्कयुक्तियों का अवलम्बन लेकर उनके मत की ही पुष्टि की है। हम दीक्षित की 'चित्रमीमांसा' को एक तर्कपुष्टि कल्पना की संज्ञा दे सकते हैं जहाँ उनकी विचारधारा विभिन्न फलक पर एक दूसरे के साथ पूर्णतया सम्पृक्त हैं।

जहाँ तक पण्डितराज का यह दर्प कि उन्होंने दीक्षित के मत की परिदीर्घ आलोचना करके उनके लक्षण को पूर्णतया असंगत सिद्ध कर दिया है तथा अपने मत को प्रबल युक्तियों से संगत सिद्ध किया है, वह मात्र

---

१. रसगंगाधर, पृ. १८०

२. वही, पृ. २३९

३. वही, पृ. ४२०

पण्डित्य प्रदर्शन के व्यामोह की ही परिणति है। हो न हो कहीं-कहीं उस खण्डन में कुछ आधार उचित है, किन्तु सर्वत्र उनका खण्डन उचित ही हो ऐसा नहीं है। प्राय: जातिगत वैमनस्य एवं अपने पण्डित्यपूर्ण दुराग्रह के वशीभूत होकर पण्डितराज द्वारा किया गया खण्डन सहृदय के मानसपटल पर सही नहीं उतरता हैं। उनके द्वारा दीक्षित के लिए कटुक्तियों का प्रयोग तो इन्हें पूर्णरूपेण दुराग्रही सिद्ध करता हैं, किन्तु पण्डितराज का अपूर्व, अद्भुत, मूर्धन्य एवं प्रखर समालोचक के रूप में स्थान सदैव ही समादृत रहेगा। उक्त दोषों के होते हुए भी इन विद्वयय का कीर्ति सौरभ उसी प्रकार व्याहत नहीं होता यथा पङ्काविष्ट पद्मसौन्दर्य। प्रत्युत गुणाधिक्य उनमें दोषों की ओर ध्यान ही नहीं जाने देता हैं। वस्तुत: समालोचकों का अलङ्कार के विषय में जो मत-मतान्तर है उनके समाधान हेतु यह प्रबन्ध सहायक सिद्ध होगा। इन दोनों ही विद्वानों के समीक्षात्मक स्वरूप के विवेचन से यदि किन्वित भी सहृदय साहित्यकारों का नूतनानुशीलन में सहयोग हो सकेगा तो मेरा यह लघु प्रयास सार्थक होगा तथा मैं धन्यता का अनुभव करूँगा।

❖

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१-	ऋग्वेद:	सायणभाष्यम्
२-	सामवेद:	सायणभाष्यम्
३-	अथर्ववेद:	सायणभाष्यम्
४-	निरूक्तम्	यास्क
५-	अष्टाध्यायी	पाणिनि
६-	ध्वन्यालोक:	आनन्दवर्धन
७-	शिशुपालवधम्	माघ:
८-	काव्यालङ्कारसारसग्रंह:	उद्भट:
९-	काव्यालङ्कारसूत्रम्	वामन:
१०-	काव्यादर्श:	दण्डी
११-	अलङ्कारसूत्रम्	भामह
१२-	विक्रमोर्वशीयम्	कालिदास:
१३-	मालविकाग्निमित्रम्	कालिदास:
१४-	श्रीमद्भागवतम्	व्यास:
१५-	नाट्यशास्त्रम्	मुनिभरत:
१६-	महाभाष्यम्	पतञ्जलि:
१७-	काव्यप्रकाश:	मम्मट:
१८-	शब्दव्यापारविचार:	मम्मट:
१९-	प्रदीपोद्योत:	गोविन्दठक्कुर: नागेशश्च

२०- काव्यप्रदीप: गोविन्दठक्कुर:, नागेशश्च
२१- बालबोधिनी वामनशिवराम आप्टे
२२- नागेश्वरी (काव्य प्रकाश) शिवशंकर झा
२३- चन्द्रालोक: जयदेव
२४- चित्रमांसा अप्पयदीक्षित:
२५- चित्रमांसा सुधाटीकान्विता धरानन्द:
२६- भारतीटीकान्विता जगदीश मिश्र:
२७- कुवलयानन्द: अप्पयदीक्षित:
२८- ध्वन्यालोकलोचन अभिनवगुप्तपादाचार्य
२९- ध्वन्यालोकदीधिति: बदरीनाथ झा
३०- प्रतापरूद्रयशोभूषणम् विद्यानाथ:
३१- अलङ्कारसर्वस्वम् रूय्यक
३२- राजतरंगिणी राजशेखर:
३३- काव्यमीमांसा राजशेखर:
३४- वक्रोक्तिजीवितम् कुन्तक:
३५- सरस्वतीकण्ठाभरणम् भोजदेव:
३६- सिद्धान्तलेश: अप्पयदीक्षित
३७- शिवलीलाप्रसक्ति: अप्पयदीक्षित:
३८- न्यायरक्षामणि: अप्पयदीक्षित:
३९- नीलकण्ठविजय: अप्पयदीक्षित:
४०- रसगंगाधर पण्डितराज जगन्नाथ:

४१- अप्पयदीक्षित डॉ० नरेन्द्रनाथ शर्मा
४२- रसगंगाधर-एक समीक्षात्मक अध्ययन कु० चिन्मयी माहेश्वरी
४३- गुरुमर्मप्रकाश: नागेश:
४४- भामिनी विलास: पण्डितराज जगन्नाथ:
४५- आसफविलास: पण्डितराज जगन्नाथ:
४६- गंगालहरी पण्डितराज जगन्नाथ:
४७- साहित्यदर्पण विश्वनाथ:
४८- चित्रमीमांसा खण्डनम् पण्डितराज जगन्नाथ:
४९- नैषधमहाकाव्यम् श्रीहर्ष:
५०- सिद्धान्तकौमुदी भट्टोजिदीक्षित:
५१- संस्कृत सुकवि समीक्षा वलदेव उपाध्याय:
५२- हिस्ट्री आफ संस्कृत पोडटिक्स कीथ
५३- पण्डितराज जगन्नाथ के काव्यग्रन्थों का साहित्यिक अनुशीलन डॉ० मनुलता शर्मा
५४- पण्डितराजकृताप्पयदीक्षितसमीक्षा विवेचनम् डॉ० गुञ्जेश्वर चौधरी
५५- अग्निपुराणम् व्यास:
५६- पुराणविमर्श: बलदेव उपाध्याय:
५७- संस्कृतसाहित्येतिहास: वाचस्पति गौरोला
५८- व्युत्पत्तिवाद: गदाधरभट्ट:
५९- शक्तिवाद: गदाधरभट्ट:

६०-	नैषमहाकाव्यम्	त्रिभुवननाथ चतुर्वेद:
६१-	नैषधमहाकाव्यम् टीका	मल्लिनाथ:
६२-	शब्दव्यापारविचार:	मम्मट:
६३-	चन्द्रिकाचकोर:	जग्गुर्वेंकटाचार्य:
६४-	हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयटिक्स	एस.के.डे.
६५-	हिन्दी साहित्य का इतिहास	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
६६-	अलंकार शेखर	केशव मिश्र
६७-	काव्यमीमांसा	हेमचन्द्र
६८-	अलंकारकौस्तुभ	आचार्य विश्वेश्वर
६९-	अलंकाररत्नाकर	शोभाकर मित्र
७०-	कौण्डिन्यप्रहसन	श्री महालिंग शास्त्री
71-	Proceeding of the tenth Session- of All Indian Oriental Confence,	Dr. Raghwan
73-	South Indian Manuscipt Report	Pro.Hulsh.
74-	What is art	Tolstoy
७४-	संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास	प्रो० काणे

सहायक पत्र-पत्रिकाया: सूची

१-	पण्डितपत्रम्	वाराणसी
२-	सरस्वती सुषमा	सं०सं० विश्वविद्यालय, वाराणसी
३-	सुरभारती	बटोदर संस्कृत महाविद्यालय, बड़ौदा
४-	सुप्रभातम्	वाराणसी

५-	सूर्योदय:	भारत महामंडल, वाराणसी
६-	संस्कृत सौदामिनी	वृन्दावन
७-	वल्लरी	वाराणसी
८-	गांडीवम्	वाराणसी
९-	प्राची	वाराणसी
१०-	आन्वीक्षिकी	वाराणसी

❖